भ्रमरगीत और सूर

डॉ० देवेन्द्रकुमार

मूल्य : १५.००

प्रकाशक :
ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर—१२

मुद्रक :
मार्डन आर्ट प्रिंटर्स, कानपुर

श्रद्धेय पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र को,
जिनका जीवन
साहित्य-चिन्ता एवं शोधनिष्ठा का कीर्तिमान है;
जिनका चरित्र
मन, वचन और कर्म की एकता का प्रतीक है;
जिनका आदर्श
पक्षधरता और शिष्यवाद से मुक्ति का आदर्श है;
और जो मेरे लिए
गुरु से अधिक मार्ग-दर्शक हैं।

प्रास्ताविक

प्रस्तावित अध्ययन का मुख्य सन्दर्भ है "भ्रमर गीत के परिप्रेक्ष्य में सूर का मूल्यांकन करना।" सूर जैसे कवि के अध्ययन के लिए, यद्यपि यह बहुत ही सीमित सन्दर्भ है, फिर भी है एक अनिवार्य सन्दर्भ, ऐसा सन्दर्भ, जो सूर के समूचे लीला-काव्य की नियति है। यदि इसे अलग कर दिया जाय तो सूर-काव्य अपनी महनीयता खो देगा, इसके विपरीत यदि शेष भाग को अलग कर दिया जाय, तो भी, यह अकेला कवि की काव्य-गत उपलब्धियों को प्रमाणित करने में समर्थ है।

सूर-काव्य के अध्ययन-प्रसंग में एक बात जो सबसे अधिक उभर कर आती है, वह यह कि कवि अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति में जितना सहज है, उसकी काव्यगत प्रेरणा और परम्परा उतनी सहज नहीं है। सूर के काव्य–सर्जन के प्रेरणा-सन्दर्भ को जानने के लिए, आइए हम कल्पना करें ऐसे कवि की जो मात्र भावुक गायक है, उसके स्वर में जादू है, और उसकी प्रसिद्धि उसे आचार्य वल्लभ तक खींच ले जाती है। आचार्य दीक्षा देकर कहते हैं "सूर धिधियाओ नहीं, भगवान की लीला का वर्णन करो।" वह अनुभव करता है कि उसके पास कला थी, विषय नहीं था। अब ऐसी विषय-वस्तु मिल गई है जो उसके स्वरों को रूप दे सकती है, अब उसके पास एक ऐसा आलम्बन है जिसके प्रति वह तन्मय और समर्पित हो सकता है। उसके सम्मुख प्रश्न अब साध्य का नहीं साधना का आ खड़ा होता है। उसके आराध्य बालगोपाल, प्रेम मूर्ति अथवा लीला-पुरुषोत्तम हो सकते हैं, पर वह उनमें अपनी चेतना को कैसे डुबोये ? प्रेम की व्याकुलता उसे चंचल कर देती है; उसका काव्य इसी आकुलता के समाधान की खोज है, यही सूर के कवि का जन्म है।

सूर की शिल्पगत कठिनाई यह थी कि वह तुलसी की भाँति स्वतन्त्र नहीं थे—अपनी सर्जन-प्रक्रिया में। तुलसी नानापुराण निगमागम से बहुत कुछ ले सकते थे। परन्तु सूर को भागवत की लीक पर चलना था। एक से लेकर दसवें स्कन्ध तक, वह लीक-लीक चलते चले गये, परन्तु दसवें स्कन्ध में आकर उन्होंने लीक तोड़ कर, स्वतंत्र उद्‌भावना का क्षेत्र निकाल ही लिया। दसवें स्कन्ध की प्रस्तावना में इसका स्पष्ट संकेत है:—

व्यास कह्यौ सुखदेव सौं, श्री भागवत बखानि।

द्वादस स्कन्ध परमसुभ, प्रेम भक्ति की खानि ।।
नवम् स्कन्ध नृप सो कहे श्री शुकदेव सुजान ।
सूर कहत अब दसम कौं उर धरि हरि ध्यान ।।

इससे स्पष्ट है कि दसवां स्कन्ध परम्परा का निर्वाह नहीं है, वह कवि की अपनी उद्‌भावना है, प्रेमभक्ति की खान है, और है उसकी रंगभूमि । सूर का अभिप्रेत लीलाकाव्य इसी में है, जिसमें वात्सल्य और श्रृंगार के संयोग-वियोग चित्र हैं । सूर काव्य के कुछ शीर्ष आलोचकों के अनुसार "भ्रमगीत एक अनूठा विरह काव्य है । प्रश्न यह है कि क्या यह स्वतंत्र विरह काव्य है ? मेरे विचार में— यह स्वतंत्र विरह काव्य नहीं प्रत्युत लीलाकाव्य का ही एक अंग है । सूर का विरह तब प्रारम्भ होता है जब श्री कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा जाते हैं, भ्रमरगीत इसी विरह का एक अंग है । और विरह काव्य, लीलाओं के संयोग-काव्य की पृष्ठभूमि पर अंकित है । अतः भ्रमरगीत का प्रतिपाद्य भी वही है जो समूचे लीलाकाव्य का है, भ्रमरगीत के सन्दर्भ में सूर के कवि के अध्ययन का अर्थ है उसकी समूची काव्य-चेतना, शिल्प और आत्माभिव्यक्ति से परिचित होना ।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने की कल्पना मेरे दिमाग में उस समय आई, जब एम० ए० स्तर पर मुझे 'भ्रमरगीत' पढ़ाना पड़ा । तब से (१९५७) लेकर आज तक इस सम्बन्ध में कुछ लिखता रहा हूँ । लिखने में सन्दर्भ-सूत्र एक ही था, यद्यपि मनस्थितियाँ अलग-अलग रहीं । यह पुस्तक इन्हीं लेखों के संग्रह का एकीकरण है । इनमें से कुछ लेख विभिन्न शोध-पत्रिकाओं में भी छपते रहे हैं, यहाँ उनका उल्लेख मैं आवश्यक नहीं समझता ।

पुस्तक में कुल अलग-अलग १२ अध्याय हैं । पहले शीर्षक में भ्रमरगीत की तथाकथित परम्परा का उल्लेख है, खासकर इन तत्वों का जो भ्रमरगीत के काव्य और शिल्प को संवारते है । तथा दूसरे में भ्रमरगीत की वस्तु का समग्रता के परिप्रेक्ष्य में विवेचन है । तीसरे में वात्सल्य के संयोग-वियोग रूपों का निरूपण है । क्योंकि भ्रमरगीत में इसकी प्रतिक्रिया है । चौथा शीर्षक मुरलिया के लिए है, मुरलिया सूर के लिए अघटित घटना ही नहीं है, वह संयोग की पृष्ठभूमि ही प्रस्तुत नही करती, वरन गोपियों की मार्ग-दर्शिका भी हुई । मुरलिया के प्रति गोपियों की प्रतिक्रिया में कुब्जा के प्रति उनके उपालम्भ का पूर्ण रूप देखा जा सकता है । पाँचवे में संयोगलीलाओं का उनके वास्तविक अभिप्रायों के सन्दर्भ में वर्णन है, छठे में वियोग का चित्रण है । सातवें में भ्रमरगीत के प्रतिपाद्य का स्वरूप विश्लेपण है और है उल्लेख उन साधनों का जिन्हें कवि प्रतिपादित करता है । आठवें शीर्षक में लोकोक्ति और मुहावरों का विचार है । नवें में पात्रों के चरित्र-चित्रण का विश्लेपण है, दसवे में सूर-काव्य का अध्ययन और मूल्यांकन है, ग्यारहवें में अध्ययन की संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है और अन्त मे प्रकीर्णक है जिसमें विपयों से सम्बन्धित तथ्यों पर कतिपय टिप्पणियां हैं ।

पुस्तक लिखने में जिन कृतिकारों की कृत्तियों से परोक्ष या प्रत्यक्ष सहायता मिली है, उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है । यहां उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, पुस्तक प्रकाशन को मैं आवश्यक घटना मानता हूँ और इसके लिए 'ग्रंथम्' के श्री कैलाशनाथ त्रिपाठी के प्रति अपनी कृतज्ञता का हार्दिक स्वर प्रकट करता हूँ । अगस्त' ६६ को इन्दौर में उनसे मेरी अचानक भेंट हुई, मैंने उन्हें पुस्तक की रूपरेखा बताई । उन्होंने फौरन छापने की स्वीकृति ही नहीं दी वरन् इतनी तत्परता बरती कि पुस्तक शीघ्र प्रकाशित हो सकी । पांडुलिपि को पूर्णता देने में मेरे जिन *सर्व श्री राजेन्द्रकुमार मिश्र, राजेन्द्रकुमार तिवारी, राजेन्द्रकुमार, लीलाधर महेश्वरी, कु० स्वर्णलता श्रीवास्तव और कु० महेशी कपूर— छात्रों ने योग दिया है उन्हें शुभ धन्यवाद देता हूँ क्योंकि पुस्तक के अंधकार से प्रकाश में आने में उनका भी कत्तृत्व है । यह सूर-काव्य का अध्ययन है निष्कर्ष नहीं । कवि की आत्मा तक पहुंचने का प्रयास है, उसका प्रकाशन नहीं । फिर भी अध्ययन अध्ययन है और इस संबन्ध में प्रतिक्रियाएँ प्राप्त हुई तो आगामी संस्करण में उनका साभार उपयोग किया जायगा । सहृदय पाठक यदि इसे पढ़कर सूरकाव्य के संदर्भसूत्र पकड़ सकें तो यही इसकी वास्तविक उपयोगिता और मेरी मानसिक तृप्ति है ।

१०–९–६७ देवेन्द्रकुमार

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय
इन्दौर विश्वविद्यालय
इन्दौर

क्रम

पूर्व परम्परा

सूर के भ्रमरगीत के संदर्भ में साधारणतया यह माना जाता रहा है, कि वह भारतीय गीतकाव्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसमें एक ओर अनुभूति और दर्शन का समन्वय है, तो दूसरी ओर दौत्य और उपालम्भ है। प्रेम के लौकिक और अलौकिक दोनों रूप उसमें अभिव्यजित हैं, वचन-वक्रता भ्रमरगीत के शिल्प की सबसे सजीव विशेषता है। वास्तव में देखा जाय तो दर्शन, उपालम्भ या दौत्य कवि के लिये मात्र माध्यम है, उसका मुख्य साध्य है अपनी अनूभूतियों के साक्ष्य पर प्रेम का सम्प्रेषण करना। इसमें संदेह नहीं कि काव्य का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जीवन का प्रेम से। प्रेम की परिपूर्णता भारतीय कवि, वियोग की चरमस्थितियों में व्यक्त करता है। वियोगी क्षण की करुण कल्पना ने ही आदि काव्य को जन्म दिया। 'मा निषाद्त्वं गमः शाश्वती समाः, में आदि कवि की वाणी, जब निषाद् को अभिषप्त करती है तो वह मानवी करुणा से ओतप्रोत हो कर ही। यह, आदि कवि की मानवी करुणा ही है, जो क्रौंचवध के निष्ठुर दृश्य पर अपनी प्रतिक्रिया अभिशाप के रूप में व्यक्त करती है, और यह प्रसंग करुणा अथवा शोक का है जैसा कि रघुवंश में कालिदास ने कहा है "शोकः श्लोकश्च शुभागतः।" डा० श्यामसुन्दर लाल दीक्षित ने इसे उपालम्भ स्वीकार किया है (कृष्ण काव्य मे भ्रमरगीत परम्परा पृ० २८८) । यह ठीक इसलिये नहीं माना जा सकता क्योंकि, यहाँ, क्रौंचवध और उसके माध्यम से व्यक्त······सीतापहरण की घटना से, आदि कवि का कोई व्यक्तिगत या सीधा सम्बन्ध नहीं है, जब कि उपालम्भ में व्यक्तिगत सम्बन्ध या आत्मीयता की भावना का होना बहुत आवश्यक है। इस बात का ठीक-ठीक ऐतिहासिक संदर्भ देना कठिन है कि जिस रूप में सूर का भ्रमर गीत उपलब्ध है उसकी परम्परा कब प्रारम्भ हुई। फिर भी परम्परा का देना किसी भी काव्यविधा के अध्ययन के लिये अनिवार्य प्रक्रिया मान ली गई है। भ्रमरगीत के संदर्भ में परंपरा का अध्ययन करते हुए, अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि भ्रमरगीत की विधा में उपलब्ध तत्व परम्परा में किस रूप में पाये जाते हैं ? सूर के भ्रमरगीत में विरह, उपालम्भ, दौत्य आदि बातें हैं, जो विरह से सम्बन्वित होने के कारण अधिकतर प्रेम-काव्य मे ही उपलब्ध हैं। प्रेम–काव्यों एवं दूसरे काव्यों में भी उपालम्भ और दूतत्व पाया जाता है। कालिदास के मेघदूत मे यह अधिक संवेदनीय और स्पष्ट स्वर में मुखरित है ! आदि काव्य में भी वियोग का विस्तृत वर्णन उपलब्ध

है । गीतकाव्य के स्तर पर मेघदूत में ही कवि मेघ के काल्पनिक माध्यम से, अपनी प्रेयसी तक प्रेम-संदेश भेजता है, उसे हम गीतकाव्य और दूतकाव्य के रूप में स्वीकर कर सकते हैं । दूतकाव्य की परम्परा का प्रारम्भ यहीं से होता है । वैसे उल्लेख करने के लिये दूतपरम्परा वैदिक आख्यानों में ढूंढ़ी जा सकती है, ढूंढ़ी भी गई है । परन्तु उस परम्परा का स्वर, संदर्भ और उद्देश्य भिन्न है । एक वैदिक आख्यान (श्यावाश्व) में स्वयं श्यावाश्व किसी राजकुमारी पर मोहित हो उठता है, वह मंत्र नहीं जानता इसलिए कुछ भी नहीं कर पाता, बाद में वह मंत्रशक्ति प्राप्त करता है और अपनी प्रेयसी को संदेश भेजने में सफल हो जाता है। इससे स्पष्ट है, इस प्रकार के आख्यानों का उद्देश्य मंत्रों की अलौकिक शक्ति का बोध कराना है ।

परन्तु मानवीय स्तर पर काव्य-प्रक्रिया में वियोगानुभूति की संप्रेपणीयता के लिये दूत की कल्पना — सबसे पहले मेघदूत में मिलती है । मेघ को दूत बनाना कितना अस्वाभाविक है; यह कालिदास स्वीकार करते है यह कह कर कि "प्रकृति कृपणा: चेतनाचेतनेपु" अथवा "धूम ज्योति सलिलमरुतां सन्निपात: क्वमेघ:" । लेकिन मेघों के प्रति कवि की अस्वाभाविकता एक आरोपित अस्वाभाविकता है क्योंकि मानवीय अनुभूतियों की सम्प्रेपणीयता मेघ कितने सहज और व्यापक ढंग से कर सकते हैं, यह कालिदास से बढ़ कर और कौन जान सकता है ? मेघदूत की सृजन-प्रक्रिया में वियोग चेतना उसी तरह व्याप्त है जिस तरह हिमालय में जान्ह्वी । मेघदूत के बाद, रघुवंश में "वाच्य त्वया मद्वचनात् सराजा" में सीता का स्वर उपालम्भ का स्वर है । अपने अबोध निर्वासन पर आखिर सीतादेवी के आक्रोश को फूटना ही था; और इसके बाद ऐसा तेजस्वी स्वर सुनाई देता है, सूर की गोपियों में । इसी प्रसग मे, आदिकवि की सीता की प्रतिक्रिया एक दम ढंढी और जड़ है, वह इतना कहकर ही चुप हो लेती हैं कि "मैं पत्थर की वह प्रतिमा हूँ जिसे भाग्य की कठोर रेखाओं ने गढ़ा है । दु ख सहने के लिये ही जिसकी रचना की है"। कालिदास के उत्तरकालीन संस्कृत प्रबन्ध काव्यों में यह परंपरा विभिन्न संदर्भों में विकसित होती रही, लेकिन भ्रमरगीत मे जिस रूप मे यह नियोजित है उस रूप में एक साथ इसके पूर्व नहीं मिलती । यह जरूरी नही कि उपालम्भ के साथ दौत्य हो, या यह कि दौत्य जहाँ हो वहाँ उपालम्भ भी हो । मेघदूत मे दौत्य भर है, उपालम्भ नहीं और "संदेश रासक" में उपालम्भ है दौत्य नही । मेघदूत मे दौत्य का वस्तुत: प्रस्ताव भर है ।

भ्रमरगीत ऊपरी तौर पर उस विरह काव्य का अग है जिसमे उपालभ अपनी चरम सीमा पर है । दौत्य से अधिक उसमे सदेश का आदान-प्रदान है जिसमे विवाद के दो स्तर हो गये हैं । विशेष लक्ष्य करने की बात यह है कि पूर्ववर्ती काव्यों मे विरहिनी या विरही स्वयं ही निवेदन करती या करते रहे है, परन्तु भ्रमरगीत मे गोपियों को बाध्य होकर ही ऐसा करना पड़ता है । उनकी यह बाध्यता उनकी अपनी निष्ठा के लिये अर्पित है । भ्रमरगीत में वास्तविक दूत है उद्धव न कि भ्रमर, इसलिए मेघदूत की तरह इसका नाम भ्रमरदूत नही भ्रमरगीत है । भ्रमर एक माध्यम है, जिसकी ओट में गोपियां एक पंथ तीन काज कर दिखाती है । वह उद्धव को निरुत्तर कर देती हैं, प्रिय

को जी भर सुना लेती, हैं, और अपनी प्रेमाभक्ति की साध्यमानता प्रतिपादित कर लेती हैं। भ्रमरगीत के वास्तविक दूत उद्धव हैं।

इसमें दो मत नहीं है कि भ्रमर दूत और उपालम्भ की मूलप्रेरणा–स्त्रोत भागवत ही है। यही से सूर का कवि प्रेरणा लेता है। भागवत मे कृष्ण के निर्देश पर उद्धव को गोपियों की विरह-वेदना दूर करने के लिये आना पड़ता है। उद्धव को प्रिय के समान ही पाकर गोपियाँ उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाती हैं, कुछ तो वे उद्धव को सीधे सुनाती है और कुछ भ्रमर की ओट लेकर। पहले प्रेम की सामान्य विशेषताओं को लेकर गोपियाँ यह कहती है कि बंधुओं का स्नेह-बंधन बड़े - बड़े मुनि नहीं छोड़ पाते, दूसरों से की गई मित्रता स्वार्थमूलक होती है, जैसे कि "भ्रमर की कमल से"। इसके बाद में वे विलाप करने लगती है। इसी बीच उड़कर एक भ्रमर आता है। वे समझती है कि यह प्रिय का कोई दूत है। बस इस सम्बन्ध और रंगसादृश्य को लेकर वे उसे आड़े हाथों लेती है। वे जो कुछ कहती है उसका निष्कर्ष यह है—

(१) उससे उनकी सौसिया डाह प्रकट होती है।
(२) उनके प्रिय कृष्ण भी भ्रमर की तरह बहुनिष्ठ हैं।
(३) मथुरा के नागरिक भी वैसे ही चतुर एवं स्वार्थी हैं।
(४) विष्णु के पूर्व अवतारों को लेकर वे कृष्ण का उपहास करती हैं।
(५) सौतियाडाह के कारण वे प्रिय के पास नही जा सकतीं।

उद्धव उन्हे ज्ञानवाद का उपदेश देते है और यह आश्वासन भी देते है कि कृष्ण सर्वात्मा हैं और वे तुमसे अवश्य मिलेगे। गोपियाँ उद्धव के उत्तर से यद्यपि संतुष्ट हैं फिर भी यह जानना चाहती हैं कि कृष्ण का उनके प्रति प्रेम कैसा है। क्या वे मथुरा की स्त्रियों से भी उसी प्रकार प्रेम करते है ? वह मोहिनी कला के विशेषज्ञ हैं ? वे हमें याद करते है या नही ? आखिर अब वे रास रचाने क्यों नहीं आते ? राजा होने से नही आते या इसलिये कि वह पूर्ण काम है ?

इसमें सदेह नहीं कि ये भाव सूर के भ्रमरगीत में बार-बार आते हैं। गोपियाँ, प्रिय और अपने बीच भेद की दीवारें खड़ी करती है। उनकी अभिव्यक्तियों से लगने लगता है कि भ्रमरगीत मे दो पक्ष है, ग्रामीण और नागरिक। जनता और राजा, नर और नारी, निपट गंवार और पण्डित। इस प्रकार हम पाते हैं कि श्रीमद्भागवत में जो प्रेम व्यक्तिगत स्तर पर प्रारम्भ होता है भ्रमरगीत में वह लोकानुभूति को अपने भीतर समेट लेता है। भ्रमरगीत में स्पष्टरूप से पक्ष और प्रतिपक्ष हैं। पक्ष है राधा और प्रतिपक्ष है कुब्जा। ये दोनों प्रथम पक्ष प्रतिपक्ष की तुलना में अधिक समानान्तर हैं, और इनकी रचना में सूर की कारयित्री प्रतिभा विशेष रूप से कार्यरत है। जिस भागवत के आधार पर सूर-सागर रचा गया है, राधा उसमें नहीं है, कुब्जा है। ब्रह्म वैवर्त में राधा भी है और कुब्जा भी है। परन्तु उसमें उनका स्वरूप और संदर्भ एकदम भिन्न है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि राधा परवर्ती काल मे कृष्ण काव्य और जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। राधा जो कृष्ण के साथ एकाकार होती है वह इतिहास की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नहीं वरन दार्शनिक और साहित्यिक

अपेक्षाओं की पूर्ति के लिये । डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसे आभीरों अथवा किसी आर्येतर जाति की 'प्रेम-देवी' माना है, इसका विस्तृत विवेचन हमने, राधाशीर्षक में किया है, इसलिये यहाँ इतना ही संकेत काफी होगा कि राधा आभीरो की प्रेमदेवी थी या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वह सर्व जगत् कारण कृष्ण की संगिनी इसलिए बनती है क्योंकि उसके बिना कृष्ण की दार्शनिक रूप में प्रतीक-प्रतिष्ठा नहीं बन पाती। प्रेम की एकांतिक वृत्ति के संदर्भ में राधाकृष्ण की लीलाओं का सर्वप्रथम उल्लेख ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है। डा० दीक्षित इस पुराण को प्रक्षिप्त परवर्ती और अप्रामाणिक मानते हैं। उनके अनुसार यह १६ वीं सदी के बाद की रचना है (प्र १११) १। डा० दीक्षित अपनी मान्यता के समर्थन में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का हवाला देते हैं और डा० द्विवेदी बंगाली विद्वान "राय" का। मेरी मान्यता यह है कि ब्रह्मवैवर्त की रचना हिन्दी कवियों के पूर्व की है। भारतीय लोक-भाषा-काव्यों में यह तो देखा जाता है कि पौराणिक मान्यताएँ काव्य में मुखरित होकर प्रचारित हुई हैं, पर यह नही होता कि 'काव्य' के अनुकरण पर पुराणों की रचना हुई हो, इसलिये यह मानना सचमुच बहुत बड़ा कल्पनाभास है कि जयदेव और चण्डीदास के आधार पर 'वैवर्तपुराण' की रचना की गई। यह बात दोनों में वर्णित लीलाओं के स्वरों की भिन्नता से ही सिद्ध हो जाती है। सूरकाव्य की लीलाओं में ब्रह्मवैवर्त का अनुकरण है, प्रतिक्रिया भी है। वैवर्त की मुख्य विशेषता यह है कि कृष्ण को परम देवता मानता है, उनके अवतार का मुख्य कारण है "क्रीड़ा कौतुक मंगल"। वह, लीलाओं के केन्द्र में स्थित हैं, और भक्तवत्सल हैं। राधा उनके प्राणों का अधिष्ठान करने वाली एक मात्र देवी है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकर की दुर्गा। राधा, कमला से बराबर ही नहीं, उससे बहुत ऊँची है। परन्तु इसमें राधा का समूचा अस्तित्व अलौकिक है, और कृष्ण से उसका वियोग, एक पूर्व नियोजित अथवा पूर्व ज्ञातयोजना है। उसकी माँ का नाम कलावती है, राधा पचास करोड़ देवियों से, वृन्दावन में सुरक्षित रहती है। वस्तुतः राधाकृष्ण एक दूसरे के पूरक हैं, राधा के बिना कृष्ण अदृश्य और निराकार एवम् निष्क्रिय हैं, और उनके बिना राधा निर्जीव एवं मूर्छित। दोनों में एकान्त प्रणय की लीलाएँ होती हैं, जिनमें वियोग अनिवार्य भूमिका बनकर आता है। इसमें वियोग के मुख्य संकेत तीन हैं। पहली बार का वियोग अभिशाप के कारण होता है, दूसरी बार का वियोग प्रणय और मान के कारण होता है। एक बार, नन्द कृष्ण को 'लोक भांडीर वन' में ले जाते हैं। कृष्ण माया के बल पर बादलों की सृष्टि कर देते हैं। इसी बीच राधा आती है और कृष्ण को जी भर चूमती है। वह उन्हें ले जाती है। वे आपस में एक दूसरे का शृंगार कर 'रास मंडप' में रासलीला करते हैं। कृष्ण राधा की वेश-भूषा पहले बनाते है, पर जब राधा की बारी आती है तो वे अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। राधा रोती है, और खूब रोती है। बाद में कृष्ण प्रकट होते हैं और दोनों की 'रास लीला' होती है। यह क्रम कई दिनों तक

१ ब्रह्म खंड २३, अध्याय १।

चलता है। वियोग का तीसरा प्रसंग है कृष्ण का मथुरा जाना। वहाँ से वह उद्धव को व्रजवासियों को समझाने के लिये भेजते हैं। यहाँ भी भागवत की तरह उद्धव व्रजवासियों को समझाने आते हैं। परन्तु वैवर्त के उद्धव में कई विचित्रताएँ हैं। वह रास्ते में रोते-बिलखते बालकों को अध्यात्म का ज्ञान देते हैं, फिर नन्द शिविर में यशोदा से मिलकर राधा मन्दिर जाते हैं। उद्धव स्तुतिपूर्वक गोकुलवासिनी राधा को प्रणाम निवेदन करते हैं। कुशल परिचय के अनन्तर राधा अपना दुखड़ा रोना शुरू कर देती है [1]। इस वियोग में से राधा का जो व्यक्ति-चित्र उभरता है वह यह है कि उसमें गलदश्रुभावुकता है। वह जड़ और चेतन में भेद करने की शक्ति नहीं रखती। वह कृष्ण-चरणों के प्रति इतनी आकृष्ट है कि भय और मर्यादा छोड़ चुकी है। अतीत की विकलताओं और मिलन की भावी आतुरताओं से वह इतनी घिरी हुई है कि मूर्छित हो रहती है। उद्धव उसकी मूर्छा भंग करते हैं। अन्त में उद्धव उसकी प्रशंसा में कहते हैं कि उसकी सख्यभाव की भक्ति सर्वश्रेष्ठ है, वह प्रकृति स्वरूपा है, राधा माधवमय है।

यह श्रुति, स्मृति और पुराणों से समर्थित है। राधा फिर मूर्छित है तब उसकी सखियां (माधवी, मालती, पद्मावती, चन्द्रमुखी, शशिकला, रत्नमाला, आदि) आती हैं और उद्धव को आड़े हाथों लेती हैं। उनका लक्ष्य उद्धव नहीं कृष्ण हैं। वे कहती हैं कि कृष्ण चोर हैं, वह ऐश्वर्य और बड़प्पन नहीं जान सकते। जब उन्हें इस प्रकार जाना ही था तो आए क्यों ? वे मानती हैं कि सुख-दुःख पूर्व कर्मों का फल है। कृष्ण को लेकर उनमें दो पक्ष हो जाते हैं। एक कृष्ण की प्रशंसा करता है, दूसरा निंदा। निंदा करनेवाली गोपियाँ आत्मवाद का समर्थन करती हैं, उनका कहना है कि आत्मा से बढ़कर सुन्दर और प्रिय चीज दुनिया में दूसरी नहीं हो सकती "कः प्रियः स्वात्मनः परः"। इसके विपरीत जो कृष्ण की प्रशंसा करती हैं वे आत्मवाद को अहं का प्रतीक मानती हैं, और उससे ऊपर उठने का अनुरोध करती हैं। इस प्रकार, प्रस्तुत सम्वाद का उद्देश्य है आत्ममोह का परित्याग करना। वियोग के मूल में यही 'आत्ममोह विसर्जन' की भावना निहित है। राधा इसकी प्रतीक है, इसीलिये मौन है, और है पुण्यवती। सूर के भ्रमरगीत में भी राधा इसीलिये 'शांत और गंभीर' है। यह सब देखकर, उद्धव की प्रतिक्रिया आँसुओं से वह निकलती है, वह गिर पड़ते हैं। वह गोपियों की तुलना में अपने को तुच्छ समझते हैं, उनके अनुसार अपनी सोलह कलाओं के साथ भी ब्रह्मा, राधा कृष्ण की बराबरी नहीं कर सकता। राधा सचेत होकर कृष्ण को लाने का अनुरोध करती है। वह कहती है कि कृष्ण के वियोग दुःख को या तो वह जानती है या फिर सीता देवी। वह नारी जाति की दुर्बलता का उल्लेख कर आशीर्वचन और मंगल कामना के साथ उद्धव को विदा करती हैं। उद्धव मथुरा पहुँच कर अपने प्रतिवेदन में स्वीकार करते हैं कि विश्व में सबसे श्रेष्ठ भारत है, उसमें श्रेष्ठ वृन्दावन है। उसका सार है, रास मण्डल, उसमें सार भूत है राधा, उसमें भी

---

[1] ब्रह्म वैवर्त पुराण ४ खण्ड ९३ अध्याय श्लोक ८० से १००।

उसका वह रूप जो कदलीवन के बीच स्थिति है। राधा वैवर्त में भी भक्त्यात्मक ज्ञान की प्रतीक है। क्योंकि स्वयं कृष्ण, नन्द और यशोदा को इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये राधा के पास भेजते हैं। वैवर्त में कृष्ण राधा के साथ विहार के लिये द्वारिका का काम पूरा कर वापस आ जाते है। और उनकी क्रीड़ाएँ शुरू होती हैं।

स्पष्ट है कि सूर की लीलाओं पर इन पुराणों का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कहीं प्रभाव सीधा है और कहीं उनकी प्रतिक्रिया है! राधाकृष्ण की उन्माद एकान्त क्रीड़ाओं का भागवत में कहीं भी उल्लेख नहीं है। वैवर्त में है, पर वह उन्हें अलौकिकता की पृष्ठभूमि पर अंकित करता है। सूर उसे विशुद्ध मानवी पृष्ठभूमि देते हैं, यद्यपि संयोग-वर्णन में सूर का कवि भी अलौकिकता से अपने को मुक्त नहीं रख सका है। फिर भी वियोग में वह शुद्ध मानवीय धरातल पर है। 'भ्रमर' की योजना वैवर्त मे नही है 'भागवत' में है। भागवत में उद्धव ज्ञानवाद के समर्थक हैं, जबकि सूर भ्रमरगीत में विशुद्ध ज्ञानवाद स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं। सूर भागवत की उपालंभ शैली अपनाते हैं पर ज्ञान की तुलना में शक्ति पर अधिक जोर देते हैं। यदि भागवत में ज्ञानवाद है तो वैवर्त में तंत्रवाद, इसमें राधा कृष्ण के लिए मंत्रों के कवच धारण करने का पुरजोर विधान किया गया है, जिसका सूर खण्डन करते हैं। कहा जा सकता है कि यदि आचार्य वल्लभ ने ब्रह्म को माया से शुद्ध किया तो सूर ने प्रेमाभक्ति को हठ योग और ज्ञान योग से शुद्ध किया।

सिद्धान्त रूप में सूर को भी यह स्वीकार्य है, परन्तु दोनों के समर्थन और प्रतिपादन की प्रक्रिया भिन्न है। भागवत और वैवर्त पौराणिक विश्वासों और अतिप्राकृत घटनाओं के द्वारा यह सिद्ध करते हैं जब कि सूर का कवि मानवीय संयोग-वियोग की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा। जहाँ तक प्रवास के बाद राधाकृष्ण मिलन का प्रश्न है भागवतकार, इसका हल कर लेता है दोनों के आध्यात्मिक मिलन की कल्पना द्वारा। वैवर्त-कार को भी इसका हल खोजने में देर नही लगती क्योंकि उसमें कृष्ण और राधा मिलन की योजना है ही। पर भ्रमरगीत में एक दार्शनिक वाद-विवाद उठाकर सूर का कवि मानवमन में मिलन-विरह की शाश्वत जिज्ञासा को उभारकर रख देता है। गोपियों में उद्धव के आने की प्रतिक्रिया उतनी तीखी नही है जितनी कि उनके हठ-योग और ब्रह्मज्ञान के उपदेश की। इसका कारण यह है कि यह उपदेश उस आशावाद को ही मेटना चाहता है जो उनके लिए वियोगी जीवन का एक मात्र आधार है, निराशा की गहनतम स्थिति में आशा बंध ही वह बंध है जो प्राणियों को बांध कर रखता है और यही वह बिन्दु है जब सूर का कवि शुद्ध मानवीय धरातल पर आ जाता है। गोपियों की विरह भावना प्रिय को लेकर अपने सबन्धों को दृढ़ करती है।

वैवर्त की भाँति भागवत में भी कुछ विरह प्रसंगों की उद्भावना की गई है। एक प्रसंग है कि श्री कृष्ण किसी गोपी को लेकर निकल जाते हैं। वह मन ही मन यह अनुभव करती है कि मैं सबसे बड़ी हूँ, वह थकने का बहाना कर कृष्ण के कंधे पर बैठने का आग्रह करती है, वह आग्रह स्वीकार कर लेते हैं, वह ज्यों ही बैठने के लिए

होती है कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। विशेप गोपी रोती है, और इसी प्रकार रोने में उसका अहँ गल जाता है। यह विशेष गोपी वैवर्त में राधा का स्थान ही ग्रहण नहीं करती प्रत्युत उसकी पूरी दार्शनिक व्याख्या भी प्रस्तुत करती है। वैवर्त की 'गोपी' साधिका नहीं सिद्ध है, कृष्ण रस में पगी हुई मौन और एकान्तवासिनी, मूर्छा और उन्माद पर जीने वाली है। वैवर्त में राधा प्रकृति की प्रतीक है। भागवत में बलराम को प्रकृति का प्रतीक माना गया है (१०/४६/३१) नर को प्रकृति मानने में जो अस्वाभाविकता थी उसे 'राधा' के प्रतीक द्वारा दूर कर दिया गया है। सूर की राधा जो वियोग के क्षणों में (प्रवास जन्य) चुप रहती है वह प्रेम की वेदी पर आत्मविसर्जन के कारण। सूर की राधा में वैवर्त की राधा जैसा उन्माद और मूर्छा उग्र रूप में दिखाई नहीं देती, परन्तु उसके संकेत अवश्य है। यह उन्माद और मूर्छा वियोग की शास्त्रीय दशाओं में बिखरी हुई हैं। और इस प्रकार कवि उन्हें मानवीय संवेदना की सरलता प्रदान कर देता है। राधा-मन्दिर के जिस ठाठ बाट का उल्लेख वैवर्त में है, उसकी जगह भ्रमरगीत में कृष्ण 'वनदेवी बसत' कहकर राधा के निर्जन वैभवहीन एकान्तवास का संकेत करके चुप है। भागवत और वैवत दोनों की स्पप्ट स्वीकृत है कि आशा बुरी बात है फिर भी उसे छोड़ना कठिन है क्योंकि "**आशाहीन सुख को अपेक्षा आशामय दुःख अधिक पसन्द है।**"

गीतकाव्य की अन्तर्मुखी धारा में सामाजिकता का जैसा सुन्दर समाहार भ्रमर गीत में देखने को मिलता है, वह उसकी अपनी विशेपता है। यह एक परम्परा का स्थापित सत्य है कि 'सूरसागर' 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर रचित है और इसलिए उसकी रचना-प्रक्रिया की पृष्ठभूमि बनती हैं परम्परागत मान्यताएँ। 'भ्रमरगीत' में भी जो कि कवि की स्वतन्त्र सृजनप्रक्रिया का परिणाम है, परम्पराओं का यह प्रभाव देखा जा सकता है ? सच तो यह है कि मध्य युग के सभी भक्तकवि परम्परा के प्रति समर्पित थे। सूर भी। फिर भी सूर में उल्लेखनीय यह है कि वे परंपरा के एक सन्दर्भ को अपनी अनुभूतियों में भोग सके और काव्य की जीवन्त प्रक्रिया में जी सके। वह उपास्य की लीलाओं को अनुभूतियों के विशिप्ट परिप्रेक्ष्य में देख सके। प्रेम भक्ति की समस्त सामूहिक लीलाओं को एक व्यक्तिगत प्रष्ठभूमि दे सके और व्यक्तिगत लीलाओं को एक विशाल प्राकृतिक प्रप्ठभूमि और सामाजिक संदर्भ दे सके। स्थापित परम्पराओं के बावजूद उनमें सृजन की उन्मुक्त प्रतिभा और संवेदन को अभिव्यक्ति देने की क्षमता मौजूद है।

---

२ | वस्तुयोजना

सूर के समस्त पदों के संग्रह का नाम है 'सूरसागर'। परम्परा के हाथों संग्रहीत और सम्पादकों द्वारा सम्पादित इन पदों में सूर के अपने कितने पद हैं और कितने पराए— यह बताना प्राय: अब असंभव है और यह कहना भी कठिन है कि 'सूर-सागर' नाम की सार्थकता का वास्तविक कारण क्या है ? यह उसकी नि:सीमता को बताता है, या अनुभूतियों की गहराइयों और गतिमान तीव्रता को ? लेकिन केवल सीमाहीनता किसी काव्य का नाम नहीं बन सकती। यदि नाम का कारण दूसरे विकल्प को माना जाय और मेरे विचार में जो माना जाना चाहिए तो वह 'लीला पदों' के कारण ही; विशेषत: कृष्ण की मानवी लीलाओं के कारण ही माना जा सकता है। फिर भी यह ध्यान में रखना होगा कि सूरसागर' के पदों का क्रम, नाम और विभाजन का सम्बन्ध काव्य-प्रक्रिया से नहीं संपादन-प्रक्रिया से है। 'विनय के पदों' का अपना विशिष्ट संदर्भ है और प्रयोजन है। यों पद किसी कला या क्रमबद्धता के कायल नहीं हैं। उनमें कवि अपने आपको सीधे अपने आराध्य से आत्मनिवेदन करने की स्थिति में अपने आपको पाता है परन्तु लीला पदों मे एक आधार है और कथा का अनुबंध भी। इस कथा का मुख्य उद्देश्य कृष्ण के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना है, विशेषकर उनकी मान की लीलाओं के व्यक्ति पक्ष का। वह भी प्रेमाभक्ति के संदर्भ में। यथार्थ में सूर-साहित्य के संपादक और मूर्धन्य आलोचक जिसे 'भ्रमर गीत' कहते हैं, वह कृष्ण की मानवीय लीलाओं की अंतिम प्रतिक्रिया और परिणति है। संयोग के संदर्भ मे कवि 'प्रेम' की जिन बाह्य स्थितियों और संयोग क्रीड़ाओं के चित्र अंकित करता है, वियोग के संदर्भ में उन्ही की आन्तरिक स्थितियों प्रतिक्रियाओ और अनुभूतियों को प्रतिबिम्बित देखा जा सकता है, अत: भ्रमरगीत एक स्वतंत्र अंग न होकर लीलाकाव्य के उद्देश्य का ही अंश है। यह लीलाकाव्य सूर सागर के तीन चौथाई भाग को घेरता है। भागवत के अनुसार सूरसागर में भी बारह अध्याय है परन्तु विनय के पदों के बाद शेष ग्यारह अध्याय, सूरसागर के दसवें अध्याय के दसवें हिस्से के बराबर भी नही है। दसवाँ अध्याय पूरा का पूरा कृष्ण की मानवी लीलाओं के लिए अर्पित है। भ्रमरगीत उसी का एक महत्वपूर्ण और मार्मिक संदर्भ है। वियोग की पृष्ठभूमि मे भ्रमरगीत की वस्तु एक उत्पाद्य कथावस्तु है। इसमें कवि के साधारणत: दो उद्देश्य माने जाते है। एक तो कृष्ण के वियोग में प्रजा की

दीन दशा का चित्रण और दूसरा निर्गुण की उपासना पर सगुण उपासना की सम्पूर्ण विजय दिखाना। जहाँ तक उद्देश्य का संबंध है उसमें कोई खास बात नहीं क्योंकि अपने मत का समर्थन और दूसरे के मत का खंडन मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य-साधना की एक आम प्रवृत्ति रही है। फिर भी भ्रमरगीत में खास बात यह है कि कवि अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जिस पद्धति और 'टेकनीक' को अपनाता है वह उसकी मौलिक सूझबूझ और प्रतिभा का सबसे बड़ा प्रमाण है। उसमें न तो दार्शनिक आग्रह है और न नीरस तर्क। अपनी बात के समर्थन में गोपियां जो कुछ कहती हैं उसमें एक सहज अनुभूति और मनोवैज्ञानिक पकड़ है। वास्तविकता तो यह है कि गोपियों को कहने के लिए विवश किया जाता है तभी वे कुछ कहती हैं। भ्रमरगीत में सूर का कवि जैसा गीत कवि वैसे ही संदर्भ कवि। भावुकता का प्रवाह यद्यपि हमें मुख्य संदर्भ से बहुत दूर ले जाता है, फिर भी भावात्मक सम्बन्ध से वह टूटता नहीं। उसमें काव्य परम्परा और लोक-चेतना का सुन्दर निर्वाह है। वैसे अपभ्रंश चरित्र काव्यों में कथा में गीतशैली का समावेश परम्परागत हो चुका था परन्तु गीतात्मक कथाशैली का प्रयोग सूर के इस लीलाकाव्य में ही उपलब्ध है।

अपने काव्य के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में सबसे बड़ी समस्या यह है कि 'भ्रमरगीत' का 'अथ' और 'इति' कहाँ से माना जाय ? साधारणतया आलोचक भ्रमर-प्रवेश से भ्रमरगीत का प्रारम्भ मानते हैं। सूरसागर के संपादक भी इसी स्थिति को स्वीकारते हैं। भ्रमर का प्रवेश उस समय होता है जब उद्धव की बातचीत गोपियों से शुरू हो जाती है। परन्तु समूची कथावस्तु और सूर के उद्देश्य के संदर्भ में यह शीर्षक अधूरा लगता है क्योंकि उसमें समूची कथावस्तु नहीं आती, आता है उसका एक अंश। मेरी मान्यता है कि वस्तुतः 'भ्रमरगीत' पूर्वपक्ष अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण के व्रजप्रवास से प्रारम्भ होता है और उसका उत्तरपक्ष उद्धव के ब्रजागमन से। 'भ्रमरगीत' जिस कथा का अन्तिम अंश है उस कथा के मुख्य तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड अपना एक अभिप्राय बोध कराता है। ये बोध परस्पर सापेक्ष्य और एक दूसरे की पूर्व स्थिति को बताते हैं। 'भ्रमरगीत' को भ्रमर-प्रवेश से मान लेने पर हम उन समस्त अभिप्रायों और लक्ष्यों की व्याख्या नहीं दे सकते हैं जो इस नाम की मुख्य प्रेरणाएँ हैं।

यदि हम कवि की काव्य-प्रतिभा को सम्पूर्ण संदर्भ में देखें तो यह लगेगा कि वह लीलाकाव्य की रचना करना चाह रहा है। इस लीला के दो पक्ष हैं, एक संयोग और दूसरा वियोग। एक में वह लीलाओं के भौतिक और दृश्य चित्र अंकित करता है, जबकि दूसरे में मानसिक और प्रतिक्रियात्मक। अपने सही रूप में सूर का कवि न संयोग का कवि है और न वियोग का, वह प्रेम की सम्पूर्णतम उपलब्धि का कवि है। निश्चय ही वह कृष्णचरित काव्य के कवि है, पर यह तो अपने उद्देश्य तक पहुंचने के लिए भूमिका मात्र है। दसवें स्कन्ध में वर्णित लीलाएँ मुख्यरूप से कृष्ण के मानवीय चरित को व्यक्त करती हैं, इसका पूर्वभाग संयोग से सम्बन्धित है जिसके प्रारम्भ में बाल-लीलाएँ हैं और तब यौवन लीलाएँ। उत्तर भाग में वियोग की

लीलाएँ हैं भ्रमरगीत जिसका एक महत्वपूर्ण और मार्मिक अंग है। कहने का अभिप्राय यह कि भ्रमरगीत चरित काव्य का एक अंग है न कि स्वतंत्र गीतिकाव्य। संयोग पक्ष को समझे बिना विरह पक्ष की पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। सूर के संयोग वियोग दो पहलू है। केवल विरह के परिप्रेक्ष्य में भी भ्रमरगीत का सर्वथा स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। क्योंकि उसके पहले विरह की एक लम्बी स्थिति गोपियां भोग चुकी होती हैं। भ्रमरगीत उसी के बाद की प्रतिक्रिया है। फिर इन दोनों को जोड़ने वाला एक और सन्दर्भ है, वह है वात्सल्य की करुण उक्तियों का सन्दर्भ। पूर्व भ्रमर गीतों का आशय जाने बिना उत्तरभ्रमर गीत के कथ्य को ठीक ठीक नहीं जाना जा सकता ?

भ्रमरगीत की प्रेरणा सूर को भागवत से ही मिलती है। भागवत का यह एक परम्परागत प्रसंग है इसमें गोपियां भ्रमर की ओट में एक दो मीठी चुटकियां लेती हैं, विरह से अधिक उनकी उक्तियों में उपालंभ है। परन्तु सूर-सागर मे भ्रमरगीत वियोग की लम्बी मानसिक पृष्ठभूमि बनती हैं, संयोगकालीन लीलाएँ। सूर के लिए ऐसा करना अनिवार्य था क्योंकि महाकवि बनने के लिए वह संयोग-वियोग के डोल में मानवमन को झुलाते। सूर इस सत्य को अच्छी तरह हृदयंगम कर चुके थे कि नित्यता और 'एक रसता' से बढ़कर उबाने वाली वस्तु दुनियां में दूसरी नही हो सकती।

विवेचन के उक्त सन्दर्भ से यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रमरगीत की वास्तविक कथा तभी प्रारम्भ हो जाती है जब अक्रूर कृष्ण को लेने के लिए आते है। इसके बाद कथा धीरे-धीरे विभिन्न प्रतिक्रियाओं में विकसित होती है। कथा का विकास वस्तु का विकास नहीं है।

कथा एक माध्यम है। इस दृष्टि से भ्रमरगीत की कथा कई खण्डों में विभक्त है।

(१) अक्रूर का ब्रज आना और कृष्ण का मथुरा प्रस्थान।
(२) कृष्ण के आने की मथुरा पर प्रतिक्रिया और प्रमुख घटनाएँ।
(३) नन्द की मथुरा से विदाई और कृष्ण का सन्देश।
(४) कृष्ण का उद्धव को दूत बनकर ब्रज जाने का प्रस्ताव और उद्धव का प्रस्थान।
(५) उद्धव का ब्रज प्रवेश और गोपियों से वार्तालाप।
(६) भ्रमर-प्रवेश और गोपी—उद्धव में उग्र वादविवाद।
(७) पराजय के अनन्तर उद्धव की मथुरा के लिए वापसी।

ये कथाभाग एक ही उपवस्तु मे अनुस्यूत है। यह उपवस्तु है कृष्ण का वियोग, इस वियोग की कई स्थितियां है। संक्षेप के लिए, इन भागो को दो वर्ग मे रखा जा सकता है—पूर्व भ्रमरगीत, अक्रूर से उद्धव के आने तक; उत्तर भ्रमरगीत, भ्रमरप्रवेश से अन्त तक। इसमें एक पूर्व पीठिका है तो दूसरी उत्तर पीठिका। पूर्व भ्रमरगीत में कथा अधिक गतिशील है, उत्तर भ्रमरगीत मे रुद्ध है। भ्रमरगीत जिस घटना की

प्रतिक्रिया है, वह कृष्ण का मथुरा प्रवास, और उनके प्रवास का मुख्य पौराणिक उद्देश्य है—देव-कार्य की सिद्धि। सूर ने यह सब स्वीकारते हुए भी उक्त घटना से कई अभिप्राय लिये हैं। यह घटना कवि के अन्तर का उद्घाटन करती है, और अपने अन्तर में जाकर सूर का गीत कवि तत्कालीन भारतीय सामाजिक चेतना के आहत मर्म का स्पर्श कर बैठता है। इस चेतना के दो छोर हैं। इस ओर निपट ग्राम्यता है, उस ओर नागरिकता। इस ओर पीड़ित नारी है उस ओर शास्ता नर। इस ओर पाप के भागीदार हैं उस ओर पुण्य के ठेकेदार। कृष्ण इनके केन्द्र में है। इस तरफ वृंदावन है, उस तरफ तीन लोक से न्यारी मथुरा। दोनों का सन्तुलन था कृष्ण के हाथ में। पर उनके मथुरा-प्रवास ने ये सारी विषमताएं जैसे एकदम उभर उठीं। सचमुच कृष्ण का प्रवास गोपियों के लिये न तो कोरा वैयक्तिक प्रश्न था और न कोरा आध्यात्मिक। वह तो विशुद्ध सामाजिक प्रश्न था इसीलिये इस प्रश्न के प्रत्येक स्तर पर दो पक्ष हैं। यही कारण है कि भ्रमरगीत की कथावस्तु मध्ययुगीन भारत की सामाजिक चेतना से पूरी तरह आन्दोलित है। क्योंकि दुःख कितना ही वैयक्तिक हो वह समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकता। सूर इस सत्य के मर्मद्रष्टा थे इसलिए सुख दुःख की हर क्रिया-प्रतिक्रिया को वह समाज के सन्दर्भ में देखते हैं। कृष्ण का मथुरा-प्रवास सूर-सागर की समग्र कथा-वस्तु मे उन्माद, प्रणय और विकट मान प्रसंग के अनन्तर शुरू होता है। वैसे तो कृष्ण-जन्म का उद्देश्य कंस वध ही था पर व्रजवासी मानते हैं कि वह उनके लिये धरती पर आये :—

महिर नंद पितु मातु कहाए। तिनही के हित तनु धरि आए॥

कृष्ण मथुरा जाते हैं कंस के निमंत्रण पर। क्योंकि उसे उनसे अपने प्राणों की शंका थी। उसने इसलिए अक्रूर को भेजा। अक्रूर के वृंदावन प्रस्थान करते ही नंद और व्रजवासियों को इसका स्वप्निल आभास हो गया। उन्हें लगा कोई 'कन्हैया' को ले गया है। यह स्वप्न-चिंता प्रबन्ध काव्यों की पुरानी आदत है। अक्रूर कृष्ण को ले जाते हैं। अक्रूर वास्तव में उतने क्रूर नहीं थे जितना गोपियाँ उन्हें समझती हैं। अक्रूर को कृष्ण की पूर्णता में अगाध विश्वास था। उन्हें कृष्ण के भविष्य की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी कि स्वयं कंस के भविष्य की। उन्होंने कहा भी है—'निर्वंश होइ हत्यार'। अक्रूर के प्रस्ताव का सबसे गहरा आघात लगा गोपियों को। श्याम–विहीन भविष्य की कल्पना से उनका रोम-रोम कातर हो उठता है। बचपन की नटखट स्मृतियों के नाम पर, यशोदा कृष्ण से न जाने का अनुरोध करती हैं। नन्द उसे टोक देते हैं। एक तो वे स्वयं कृष्ण के साथ जाते हैं और दूसरे उन्हें विश्वास था कि कृष्ण का कहीं भी कुछ भी बिगाड़ संभव नहीं। नन्द का यह विश्वास यशोदा की मोहजन्य आकुलता को प्रभावित नहीं कर सका। उसकी व्यथा बोल ही उठती है—

विरध समय की हरत लकुटिया,
पाप पुण्य डर नाहीं।

यशोदा के प्रस्तुत मानसिक घात–प्रतिघातों से बल खाती हुई कथा अग्रसर होती है। कृष्ण की विदा के समय रथ के साथ हो लेती हैं। इधर कृष्ण के ओझल

होते ही व्रज - समाज आकुल हो उठता है। कथा की उत्सुकता को हृदय का आवेग वृन्दावन में विलमने के लिये विवश कर देता है। उस समय गोपियों को अपने भारी भरकम अस्तित्व की तुलना में वह धूल अच्छी लगी, जो प्रिय-रथ के पहिये के साथ उड़ रही थी। कृष्ण के मथुरा पहुँचने पर कथासूत्र फिर संभलता है। श्याम के सलोने व्यक्तित्व की सबसे अधिक प्रतिक्रिया मथुरा की सुन्दरियों पर हुई। इसके बाद उन घटनाओं का तांता लग जाता है, जिनका सम्बन्ध सुरकाज से जोड़ा गया है—धोबी की लूटपाट, कुवलयावध मल्लयुद्ध आदि। इन दैवी घटनाओं में यदि कोई मानवी घटना घटित हुई, तो वह है 'कुब्जा–मिलन'। सूर देवताओं के नहीं मनुष्य के कवि हैं और मनुष्य की यह छोटी सी घटना उन्हें जितनी प्रभावित करती है उतनी दैवी घटना नहीं। वैसे यह वैयक्तिक घटना है पर भ्रमरगीत की कथा के तारों को वह सबसे अधिक झनझनाती है। इसीलिए कवि कथित सुरकाज को जल्दी निपटाकर कुब्जा प्रसंग पर आ जाता है। पर कृष्ण नंद को यह कह कर विदा करते हैं कि मैं तुम से दूर नहीं हूँ। नन्द यह मान लेते हैं। यह इसलिए क्योंकि वह ज्ञानवादी भक्त हैं। अक्रूर और उद्धव इसी कोटि में आते हैं। भक्तों की शुद्ध कोटि में आती है–राधा कुब्जा और गोपियाँ। इनमें भी तारतम्य है। भ्रमरगीत में ज्ञानवादी भक्तों को किसी न किसी रूप में अपनी हार माननी पड़ी है। इस बारे में नन्द की आत्म–स्वीकृति देखिए—**निठुर डर मैं ज्ञान वरत्यौ मानि लीन्ही बात।**" व्रज पहुँचने पर यशोदा ने इन शब्दों से उनका स्वागत किया—**उलटि पग कैसे दीन्हों नंद।** हकीकत यह है कि पग उलट चुका था। नंद को बहुत सुनना पड़ता पर वह बच गये। बीच में एक आगत ग्वाल ब्रजबालाओं को इस रहस्य की सूचना देता है—

> ग्वारनि कही ऐसी जाइ
> भर हरि मधुपुरी राजा बड़े वंश कहाए
> राजभूपन अंग भ्राजत अहिर कहत लजात
> मातु पितु वसुदेव दैवै नंद जसुमति नाहिं
> यह सुनत जन नैन ढारत भींजी कर पछताहिं
> मिली कुबिजा भले लैके सो भई अरधंग
> सूर प्रभु वस भये ताकै करत नाना रंग

कृष्ण कुब्जा के इस नये सम्बन्ध ज्ञान ने जैसे ब्रजबालाओं की अनुभूतियों को खराद पर चढ़ा दिया। उत्तर भ्रमरगीत में गोपियाँ इन बातों का उत्तर देती हैं। उनके आक्रोश की सीमा न थी। कुब्जा नाम सुनत विरह अनल डूबीं। उनकी चेतना चुनौती देती है।

> अब कहावति पटरानी बड़े राजा श्याम
> कहत नहिं कोऊ उनहिं दासी वै नहीं गोपाल
> वै कहावत राजकन्या वे भये भूपाल
> पुरुप को करी सव सौंहै कुबरी किही आज
> सूर प्रभु को कहा कहिए वेचि खाई लाज

कृष्ण की मानवी दुर्बलता पर कितना करारा, पर मीठा व्यंग्य है—

भामिनी कुबिजा सो रंग राते,
राजकुमारी नारी जो पवते,
तो कव अंग समाते ?

फिर नन्द यशोदा के संवाद के सहारे कथा आगे बढ़ती है एक विवशता भरी खीज के साथ। यशोदा धाई के नाते उससे मिलना चाहती है, जब कि नंद यह रट कर पछताते हैं—

चूक परी हरि की सेवकाई ।

इसके अनन्तर कथा फिर-विरह व्यथा में खो जाती है। गोपियाँ इस हीन भाव से बार-बार ग्रस्त तो उठती हैं कि वे छोटी हैं और कृष्ण बड़े। कभी पावस उनकी व्यथा को भड़काती है और कभी नेत्रों की पीड़ा उन्हें चैन नहीं लेने देती। इस प्रकार कथा वियोग की रीति मुक्त और भुक्त, दोनों प्रक्रियाओं में अवरुद्ध है।

पूर्व भ्रमर की कथा यहीं समाप्त समझिए। उत्तर भ्रमर की कथा उद्धव के ब्रज आने पर प्रारम्भ होती है। कृष्ण उद्धव के ज्ञानवाद से असन्तुष्ट है। और उद्धव उनके प्रेमवाद से। अन्त में कृष्ण यह तय करते हैं—

प्रेम भजन न नेक थाके जाई क्यों समुझाइ
सूरज प्रभु आनि मन यहै, ब्रजहिं दहुँ पठाइ

इस प्रसंग में वह यह स्पष्ट कर देते है कि ब्रज और उसके वासियों के लिए उनके हृदय में कितना प्यार है। विशेषकर राधा का प्यार उनके हृदय में अमिट है। वह नहीं समझ पाते कि आखिर विधाता ने क्यों यह विधान उन्हें दिया। उनके बाद कुब्जा भी उद्धव को अपने महल में बुलाकर पाती देती है। पाती का आशय है कि अपराध उसका नहीं, हरि कृपा का है। और यह कि उनकी कृपा पर किसी एक का अधिकार नहीं हो सकता। उसने सेंत मे नहीं, तप द्वारा वह सब पाया है, जि से राधा चिढ़ती है। सूरसागर में कुब्जा ही इस बात का प्रतीक है कि हीन स्थिति भक्ति योग के विकास में बाधक नही हो सकती। उधर उद्धव व्रज के लिए प्रस्थान करते हैं और इधर गोपियाँ उनके स्वागत मे दूब दही चन्दन आदि जुटाती हैं। पर उद्धव का उद्देश्य कुछ और था—

कही उधौंव सों हरि प्रीति
वे ले चलै जोग गोपिन को
तहाँ करन बिपरीति ?

ब्रज पहुंच कर, उद्धव पहले नंद-यशोदा को कृष्ण का संदेश कहते है। उन्हें यह भी बताते हैं कि दोनों भाई आयेंगे ! पर, उन्हें इस बात का बहुत बुरा लगा कि आप लोगों ने उनकी सुध नहीं ली। यशोदा ने अपने आपको धाय समझा—इसका भी उन्होने बुरा माना। नंद—यशोदा तक तो संदेश ठीक था। गोपियां पहिने उन्हे कृष्ण समझती हैं। बाद में असलियत मालूम होने पर भी, उद्धव-मिलन मे वे कृष्ण-मिलन के सुख का अनुभव करती है। उद्धव अपने मन में चाहे जो समझ रहे हों, पर गोपियाँ उनकी

हर बात को ताड़ लेती हैं और वे 'जस को तस' उत्तर देने के लिए एकदम तैयार बैठी है, उनका उत्तर उद्धव के रुख पर निर्भर करता है । वे कहती हैं :—

'बोलत इनहूँ को सुनि लीजै
कैसी उनिठ उठे धो ऊधो तैसों उत्तर दीजै ।
यामें कछु खरचीयत नाहीं, अपनो मतौ न दीजै ॥

ये पंक्तियाँ बताती है कि गोपियाँ कितनी ही भावुक रही हों, मूर्ख नहीं थीं । उद्धव सबसे पहले मथुरा-प्रवास की मोटी-मोटी घटनाओं का उल्लेख करते हैं, जैसे कंसवध, माता-पिता की मुक्ति, उग्रसेन को राजगद्दी, सुरकाज की सिद्धि आदि-आदि ! फिर, वह पाती का उल्लेख करते है । पाती पाते ही गोपियों की हड़बड़ी का क्या ठिकाना ? वह पाती ही उनका आक्रोश का आलबन बन जाती है ? पाती छोटी थी, पर उसका विषय बड़ा था—

'ऊधौ नीकी लानी चोठी,
गोपीनाथ लिखी कर अपनौ यामें योग बसीठी !

ध्यान देने की बात यह है कि कुब्जा की बात न तो उद्धव बताते है और न गोपियां ही उनसे पूछनी है । वैसे आगत ग्वाल से वे इस बारे में सुन चुकी थीं और कुब्जा की पाती पाकर उनका विश्वास पक्का हो गया था । ठीक उसी समय गुनगुनाते हुए भौरेराम आ धमकते है, गोपियों को एक अवसर मिल गया । उनकी पहली जिज्ञासा थी—

पूछन लागी ताहि गोपिका कुब्जा तोहि पठायो
कैधो श्याम सुन्दर को हमें संदेशो लायो ।

यहाँ आकर कथा वाद-विवाद के भँवर में फंस जाती है, और कथा का सूत्र तब तक पकड़ में नहीं आता, जब तक उद्धव अपनी हार नहीं मान लेते ! गोपियों की उक्तियों और प्रत्युक्तियों में पिछले प्रसंगों की आवृत्ति हुई है, पर नवीनता के साथ । वस्तु–योजना की दृष्टि से इसमें लिखी गई हर बात का वह दो टूक जवाब देती हैं । अपने उत्तर के संदर्भ में वे संयोगकालीन मधुर संस्मरणों को दुहराती है। इनमें से कुछ उल्लेख तो व्यक्तिगत व्यथा- विनोदन के लिए है, और कुछ का, हठ-योग-साधना की कठोरता सिद्ध करने के लिए । भ्रमरगीत का यह अंश वस्तुतः गोपियों की व्यथा का चरम विन्दु है । भ्रमरगीत की कथा में मर्मस्पर्शी विन्दु कुल तीन हैं—१. अक्रूर के साथ कृष्ण का मथुरा-प्रवास । २. ग्वाल द्वारा कृष्ण-कुब्जा के प्रणय संबंध की सूचना । ३. उद्धव द्वारा प्रेमयोग के स्थान पर हठयोग का समर्थन ।

पहले विन्दु पर गोपियां विछोह की भौतिक भूमिका में हैं, दूसरे पर मानसिक भूमिका में और तीसरे पर वे अध्यात्मिक भूमिका में पहुँच जाती है । सूफीमत की चार भूमिकाएँ यद्यपि गोपियो की साधना मे नही, फिर भी कथा के विकास-क्रम की जगह गोपियों का भावात्मक विकास ले लेता है । उनके विकास की अंतिम सीमा यह वाणा है—

एक बार तो मिलौ कृपा करि जो अपनी ब्रज जानौ

यह रीति संसार सबको कहाँ रंक कहाँ रानौ

इस प्रकार समूचा भ्रमरगीत कविकल्पना की सुन्दरतम सृष्टि है। उसका मुख्य उद्देश्य, उस प्रेमाभक्ति की मानसिक परीक्षा अथवा साध्यमानता है, जिसके संयोगचित्र वह कृष्णचरित के पूर्वार्ध में दे चुका है। भोगे हुए अतीत के साक्ष्य पर ही, वह प्रिय के अभाव के संदर्भ में प्रेम भावना को इतनी पूर्णता और परिपक्वता देना चाहता है कि वे सिद्धि के मंगल कलश बन जाँय थोड़े बहुत तारतम्य के साथ। इस भक्ति की प्रतीक हैं गोपियां और राधा। जिस घटना की अंतिम प्रतिक्रिया भ्रमर गीत है वह है कृष्ण का मथुरा के लिए प्रवास। इसके माध्यम से सूर का कवि मानसिक घात-प्रतिघात की उत्तरोत्तर विकसित होती हुई कितनी ही स्थितियों का निर्माण करता है। सूर की उद्भावना में एक ओर कल्पना का चमत्कार है तो दूसरी ओर उसकी योजना में काव्यकौशल। भ्रमरगीत सूर के अन्तर्मुखी कवि की स्वच्छन्द उड़ान ही नहीं है वरन उसमें एक नियोजित कथा भी है। इसमें कवि पात्रों की मर्यादा और स्थितियों का पूरा ध्यान रखता है। उदाहरण के लिए नंद मथुरा से लौट कर ब्रजवासियों को कुब्जा-कृष्ण-प्रणय की सूचना नही देते, उद्धव भी अपने संदेश में इस सम्बन्ध में चुप्पी साध लेते है, उनके चुप्पी साधने मे औचित्य था। इसकी सूचना गोपियों को वह 'उमगत ग्वाल बाल' देता है जो नंद के साथ मथुरा गया था और जिसने कृष्ण-कुब्जा के प्रणय को अपनी आंखों से देखा था। यह भी मर्यादा के प्रति गोपियो का सबसे बड़ा सम्मान है कि वे उद्धव से सीधे कुछ न कह कर भ्रमर के माध्यम से ही कुछ कहती हैं।

इस सदर्भ में उन सिद्धान्त या धारणाओं का विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है कि जो 'भ्रमरगीत' के प्रतिपाद्य पर सूरकाव्य के विभिन्न समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार "भ्रमरगीत का प्रतिपाद्य यह बताना है कि नीरस उपदेश से सांसारिक जीवन में व्यवहार नहीं चल सकता" भ्रमरगीत में भाव प्रेरित वक्ता द्वारा 'प्रेम प्रसूत' अगनित अन्तर्वृतियों का यह उच्चाटन किसी उद्देश्य के लिए समर्पित होना चाहिए। अब प्रश्न है कि क्या सिर्फ नीरस उपदेश की व्यर्थता सिद्ध करना भ्रमरगीत का लक्ष्य है ? वैसे आचार्य शुक्ल यह भी मानते है कि "सूर में वस्तु-संकोच है और उनका प्रेम एकान्तिक एवं निराला है।" परन्तु शुक्ल जी का ही उक्त उद्देश्य मान लेने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सूर का प्रेम लोक-व्यवहार चेतना से शून्य नहीं है।

डा० मुंशीराम का मत है कि "भ्रमरगीत योग के ऊपर प्रेम की ज्ञान के ऊपर भक्ति की और निर्गुण के ऊपर सगुण की जीत काव्य है।" इससे यह भ्रम हो सकता है कि प्रेम अलग है और भक्ति अलग। हठयोग, ज्ञान और निर्गुण उसके तीन अलग अलग शत्रु है, जिन्हे सूर का कवि अलग-अलग पराजित करता है। वस्तुतः सूर की प्रेमभक्ति सगुण के प्रति समर्पित है। और अपनी साधना से वह सिद्ध करते है कि निर्गुण 'उपासना' उनके काम की नहीं चाहे वह ज्ञानमूलक हो या योगमूलक। परन्तु यहाँ मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि वे प्रेमभक्ति की विजय घोषित करनी है, बल्कि यह

है कि ऐसा करने की उनकी प्रतिक्रिया क्या है। सूर का कवि अपने लक्ष्य की जीत मे नहीं उसकी प्रतीयमानता में विश्वास रखता है।

डा० हजारी प्रसाद ने 'भ्रमरगीत' पर अलग से कुछ नहीं लिखा। भक्ति की सामान्य पृष्ठभूमि देकर वह यह बताते है "सूर जैसे कवियों में विरोध की ध्वनि नही है। वे बुराई को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। सूर-सागर प्रेम का काव्य है—इसमें संदेह नही कि सूरसागर प्रेम का काव्य है, पर यदि सूर में विरोध नहीं तो सगुण-निर्गुण के विवाद की क्या आवश्यकता थी, सूर ने बुराई की भी उपेक्षा नहीं की। वह उससे जमकर लोहा लेते हैं ?"

डा० ब्रजेश्वर वर्मा के अनुसार "कवि भ्रमरगीत में प्रेम की पूर्वता सिद्ध करता है। उसमें रचना का विस्तार और तन्मयता है। कवित्व भक्तिभाव और वैयक्तिकता के विचार से सूर की वह सर्वश्रेष्ठ रचना है।" इस प्रकार डा० वर्मा भ्रमरगीत के प्रतिपाद्य का स्पष्ट निर्देश नही करते है। वे उसकी सफलता प्रतिपादित करते हैं। पं० नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार भ्रमरगीत में सूर का उद्देश्य निर्गुण का खंडन करना नहीं है, वह तो गोपियों के साथ कृष्ण से अपना तादात्म्य स्थापित कर रहे हैं .... "भ्रमरगीत में संयोग की मुरली बजाने के बाद वे विरह के आँसुओं से अभिषेक करने चली है। सूर ने भ्रमरगीत प्रसंग को एक अत्यन्त अनूठे विरह काव्य का रूप दिया है जिसमें आदि से अंत तक व्रज की दुःख कथा कही गई है, इसके दो भाग हैं, (१) उद्धव के आने से पूर्व की वियोग कथा और (२) उद्धव और गोपियों का वार्तालाप। उसमें है मनोवैज्ञानिक सामंजस्य और स्वाभाविकता मे अलौकिकता का विन्यास।" डा० हरवंशलाल के मत में 'भ्रमर' प्रतीक रूप में है और उद्धव का प्रेमाभक्ति में दीक्षित हो जाना उसका उद्देश्य है। वह गोपियों के उपालंभ की कुंजी ग्वाल बाल के कथन को मानते हैं। डा० मनमोहन गौतम ने सूर की काव्यकला का विचार करते हुए भी 'भ्रमरगीत' के कलापक्ष को छूना ठीक नहीं समझा। डा० श्यामसुन्दर दीक्षित के अनुसार भ्रमरगीत का उद्देश्य है "गोपियों का अपने सात्विक स्नेह का परिचय और सगुण मत निर्गुण मत की विजय।

डा० स्नेहलता अग्रवाल के अनुसार भ्रमरगीत का उद्देश्य है "ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की विजय दिखाकर निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म की भक्ति भावना की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना है।" भ्रमरगीत के संदर्भ में विद्वानों के यह मतभेद इस बात की साक्ष्य हैं कि भ्रमरगीत किन विशिष्ट संदर्भ में लिखा गया है। इस संबन्ध में आचार्य वाजपेयी का अभिमत, भ्रमरगीत के वास्तविक उद्देश्य के अधिक समीप है। लेकिन उनका यह कथन उचित नही माना जा सकता कि इसके पूर्व गोपियाँ संयोग की मुरली बजाती रही है ? क्योंकि संयोग में भी उन्हे वियोग की स्थितियों में से गुजराना पड़ता है। इस वियोग कथा के, जो संयोग पृष्ठभूमि पर विकसित होती है, तीन भाग है अतः भ्रमरगीत भी समूचे विरह काव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह लीलाकाव्य का एक अंग है अतः भ्रमरगीत का कोई स्वतंत्र प्रथक उद्देश्य नही है। उद्देश्य प्राप्ति की प्रक्रिया भिन्न हो सकती है।

भ्रमरगीत का उद्देश्य पृथक मानने का कारण सम्भवतः उसका नामकरण ही है। पर, नामकरण कवि का अपना नहीं है। अतः भ्रमरगीत का प्रतिपाद्य वही है जो सूर के समूचे लीलाकाव्य का। और लीलाकाव्य का उद्देश्य है प्रेमाभक्ति की रसात्मक अनुभूति एवं साम्ययानता। भ्रमरगीत इसी उद्देश्य की अंतिम परिणति है।

३ | वात्सल्य

साहित्यिक दृष्टि सूर को वात्सल्य और शृंगार का कवि मानती है, जब कि दार्शनिक दृष्टि प्रेमाभक्ति का। चाहे प्रेमाभक्ति हो या वैधी, चाहे निर्गुण भक्ति हो या सूफी, उसकी अभिव्यक्ति के लिए कोई न कोई ऐसा माध्यम चुनना पड़ता है जो लोक-हृदय के निकट हो। यह माध्यम कभी भावात्मक भी हो सकता है और कभी प्रतीकात्मक। कबीर ने हठयोग की शब्दावली और दाम्पत्यजीवन को अपनी भक्ति के प्रकाशन का माध्यम चुना, तुलसी ने दास्यभाव और चातक को। जायसी ने लौकिक-कथा और प्रकृति को। सूर ने वात्सल्य और शृंगार के माध्यम से अपनी प्रेमाभक्ति को अभिव्यक्ति दी है। मध्ययुगीन भक्ति की मुख्य प्रेरणा भी मनुष्यता से ही आंदोलित है। मध्ययुग में भक्ति और काव्य का एकीकरण इसी कारण संभव हो सका। मध्ययुग के भक्तकवियों का लक्ष्य जितना व्यापक था, उनकी काव्य-वस्तु उतनी ही सीमित। इसी सीमित वस्तु द्वारा उन्हे लोक-हृदय को रंजित करना पड़ा। सूर के कवि के लिए यह कठिनाई थी। इसके अतिरिक्त वात्सल्य के लिए साहित्यिक दृष्टि 'रस' मानने को तैयार नहीं थी। कृष्ण के जीवन में अप्राकृत लीलाओं का इतना जमघट था कि उन्हें लोकहृदयगम्य नही बनाया जा सकता था। फिर सूर को परंपरा से जो प्रेमाभक्ति मिली थी उसमें ज्ञानवाद, हठयोग और ऐकान्तिक अतिप्राकृतवाद, राधा-कृष्ण का हास्य क्रीड़ा तत्व मिला हुआ था। इन सब से मुक्त होकर विशुद्ध मानवी धरातल पर प्रेमाभक्ति की धारा बहा देना, सूर की बहुत बड़ी सफलता है।

सूर जिस प्रकार अपने आराध्य कृष्ण की अलौकिक चर्चा में नहीं पड़े, उसी प्रकार उन्होंने 'रस' की शास्त्रीय सत्ता का भी अधिक विचार नहीं किया। सूर के शृंगार और वात्सल्य को शास्त्रीय प्रक्रिया में देखना उनका महत्व कम करना है। जहां तक शास्त्रीय चिंतन का प्रश्न है, साहित्य-शास्त्र शृंगार का तो पूरा विवेचन करता है, परन्तु वात्सल्य के विषय में वह एक मत नही। संस्कृत के प्रसिद्ध आलोचक अभिनव गुप्त, मम्मट और पंडितराज वात्सल्य को रस मानने के विरुद्ध हैं। अधिक से अधिक उसकी भावसत्ता स्वीकार की जा सकती है। परन्तु जब अभिनव गुप्त निवृत्तिपरक शांतरस को रस मानते हैं,[1] तो वात्सल्य को रस न मानने का कोई मनोवैज्ञानिक कारण दिखाई नही देता। क्योंकि वात्सल्य प्रवृत्तिधर्म है, और उसका

---

१. ततः त्रिवर्गात्मको प्रवृत्ति धर्म निवृत्ति धर्मात्मिको मोक्षः-'अभिनव भारती'

आस्वादन आत्मा ही नहीं लोकात्मा भी कर सकती है। वह दाम्पत्य की तरह 'स्व-केन्द्रित' नहीं है, और न शान्त की तरह 'स्वात्मवश'। 'वात्सल्य' एक व्यापक वृत्ति है वह उतनी ही व्यापक है, जितनी सृष्टि। प्राणीमात्र में उसकी सत्ता है। चेतना के विकास स्तरों में उसके विविध रूप देखे जाते हैं। मनुष्य की मूलभूत एषणाओं में 'पुत्रेषणा' को महत्वपूर्ण माना गया है। विश्वनाथ ने अवश्य भरत मुनि का हवाला देकर 'वात्सल्य' रस का समर्थन किया है (साहित्य दर्पण: कारिक २५१,२५२,२५३:।) उनके अनुसार वत्सल-स्नेह स्थायी भाव है, पुत्रादि आलम्बन, उसकी चेष्टाएँ उद्दीपन, आलिंगन स्पर्श चुम्बन आदि अनुभाव तथा अनिष्ट-शंका, हर्ष, गर्वादि संचारीभाव हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारतीय समीक्षक एक ओर अपने सैद्धान्तिक आग्रह पर डटा रहता है और दूसरी ओर व्यवहार के अनुरोध को भी स्वीकार कर लेता है। विश्वनाथ संस्कृत के व्यवहारवादी और समन्वयशील आलोचक हैं। प्रश्न है कि उन्हें 'वात्सल्य' को रस क्यों मानना पड़ा? क्या केवल इसलिए कि भरतमुनि ने कहा था? मेरे विचार में, इसका मुख्य कारण था भारतीय साहित्य में वात्सल्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अभिव्यक्ति। यह आवश्यक नहीं कि वह संस्कृत में ही रही हो; वह तत्कालीन लोक-साहित्य मे भी हो सकती है, और इस बात का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि संस्कृत-समीक्षक लोकसाहित्य को लक्ष्य में रखकर अपनी आलोचना का क्षेत्र बढ़ाते रहे हैं। अपभ्रंश साहित्य में वात्सल्य रस की पूर्ण अभिव्यजंना ही नहीं मिलती, प्रत्युत स्वयं भू और पुपदेव ने कृष्ण की बाललीलाओं का चित्रण किया है।[1] नहीं कह सकता कि सूर को यह परम्परा ज्ञात थी, परन्तु, आद्य मराठी में जो····ढवल गीत······मिलते है, उनमें कृष्णलीलाओं का वर्णन है। इसी परम्परा के अनुरोध से विश्वनाथ को वात्सल्य का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करना पड़ा। वात्सल्य और शृंगार के स्थायी भाव में कोई भेद नहीं, जैसा कि विश्वनाथ कहते हैं, भेद केवल आलम्बन का है। 'रति' को आधार लेकर बनने वाले प्रत्येक रस के दो भेद होते हैं, संयोग और विप्रलंभ। विश्वनाथ ने केवल संयोगवात्सल्य का उल्लेख किया है, विप्रलंभवात्सल्य का नही।

परन्तु विप्रलंभ वात्सल्य भी होता है। सूरसागर में वात्सल्य के दोनों पक्षों का विशद चित्रण कर सूर के कवि ने न केवल वात्सल्य को इस रूप में प्रतिष्ठित किया वरन् उसे पूर्णता भी दी। वास्तव मे देखा जाय तो दाम्पत्य का समाहार वात्सल्य में ही होता है। इसीलिए भवभूति ने कहा था कि 'पुत्र' पति-पत्नी के आनन्द की गाँठ है।

सूरसागर में तीन प्रकार की लीलाएँ एक ही क्रम में वर्णित हैं। दैवी लीलाएँ, दैवी मानवी लीलाएँ और शुद्ध मानवी लीलाएँ। दैवीलीलाओं में अति प्राकृत पद्धति पर आध्यात्मिक लक्ष्यों की सिद्धि बताई गई है। दैवीमानवी लीलाओं में मानवी लीलाओं का उपयोग दैवी कार्यों के लिए किया गया है। शुद्ध मानवी लीलाएँ सूर के कवि की

---

१. धनपान ने···· भविसयत कहा कि मैने वात्सल्य के संयोग वियोग दोनों रूपों की शुद्ध मानवी अभिव्यंजना की है।

मानवी प्रयोजनों की सिद्धि के लिए हैं। इसमें संदेह नहीं कि सूर का कवि इन्हीं लीलाओं के चित्रण में रमता है। दैवी या अतिप्राकृत लीलाओं में आती हैं "पूतना वध, बकासुर वध श्रीधर का आगमन तृणावर्त, यमलार्जुन की मुक्ति, वत्स बालक अपहरण-प्रसंग, कंस द्वारा प्रेरित दूसरी योजनाएँ, दावानल जनलीला, प्रलंब वधलीला आदि। मानवी लीलाओं को सूरसागर के संपादकों ने विभिन्न गीतों के शीर्षक में रखा है। जैसे लोरी गीत गोचारण गीत आदि। इन गीतों में एक ही भावना कई पदों में कई रूप से मुखरित होती है। इस प्रकार लोरी-गीतों से कृष्ण के मथुरा-गमन तक यशोदा-नंद और गोपियो से सीधा सम्बन्ध रखने वाली जितनी घटनाएँ और प्रसंग है, वे सब मानवी लीलाओं के अंतर्गत है। प्रत्येक गीत में किसी प्रसंग या घटना का पूरा खण्ड चित्र है। अप्राकृत घटनाओं को अलग कर, यदि इन घटनाओं को एक क्रम में रख दिया जाय तो कृष्ण का पूरा सहज मानवी चित्र उभर आता है। इस सहजता में ही उनकी स्वाभाविकता निहित है। सूर का यह स्वभाव है कि वह जिस प्रसंग को उठाते है उसे पूर्णता को पहुचा देते है। सूर्य की किरण जैसे अपनी परिधि की समस्त वस्तुओं को आलोकित करती है वैसे ही सूर की कल्पना कृष्ण के समूचे बालचरित को चित्रित करती है। कल्पना से कवि बालजगत के इन कोनों को अपनी अनुभूति का संस्पर्श दे आता है। अतः सूर की इन लीलाओं को केवल मनोविज्ञान केवल दर्शन या शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखना उनकी व्यापकता को सीमित करना है। सचमुच सूर का कवि मानवमन की व्यापकता और विभिन्नता का कवि है। सूर का काव्य विविध भावों की एकता का काव्य है। सूर ने वात्सल्य की दोनों स्थितियों का वर्णन किया है। संयोग का भी और वियोग का भी। इन दोनों ही स्थितियों के आश्रय यशोदा और नंद हैं। आलम्बन कृष्ण हैं। उसके आश्रय में भी तारतम्य है। नंद कृष्ण को आलौकिक संदर्भ में देखते है, जबकि यशोदा शुद्ध लौकिक संदर्भ में। इसी से नंद की अपेक्षा, यशोदा की प्रतिक्रिया अधिक तीखी और गहरी है। नन्द में एक सीमा के बाद संतोष और समझौता है, यशोदा मे व्यथा और व्याकुलता। यशोदा कृष्ण को दास्यभाव से नहीं देखती परन्तु कहीं-कहीं उनका दैन्य उस कोटि तक पहुँच गया है जो दैन्य की भी पहुँच के पार है। वात्सल्य की संयोग स्थिति में लोरी गीतों से लेकर कृष्ण-राधा-मिलन की घटनाएं आती है। उसके बाद अक्रूर के आगमन से लेकर उद्धव आने के पूर्व तक वियोग की पहली स्थिति है, और उद्धव के आगमन से दूसरी स्थिति प्रारंभ हो जाती है जो तब तक चलती है, जब तक कि इसमें से गोपियों की वियोगधारा नहीं फूट पड़ती। सूर-सागर मे शृंगार की संयोग-भूमिकाएँ वात्सल्य की भूमिकाओं के बाद आती हैं। दोनों का आलम्बन एक है, आश्रय अलग-अलग।

पहले पहले हम वात्सल्य की संयोग-स्थिति को लें। इसमें कृष्ण के केवल बाल-जीवन का क्रमिक विकास दिखायी देता है। केवल माता-पिता के दृष्टिकोण से कृष्ण-लीलाएं, घर तक सीमित लीलाएं, घर के बाहर की लीलाएं। इनमे कृष्ण के चरित्र के विकास की मनोवैज्ञानिक रेखा अंकित है। सबसे पहले सूर का कवि कृष्ण-जन्म की पौराणिक विधियां समाप्त कर कन्हैया को माँ यशोदा की गोद में सौंप देता है। वह

अस्तन पान करावत है
वार वार रोहिनी को कहि कहि
पलिका अजिर संगावत है ।
और तव प्रातः समय रवि किरन कावेरी
सो कहि सुतहिं वतावति हैं

यशोदा वार-बार यही मनाती है कि उसका कान्हा घुटनों के बल चलना सीख जाय। इसी बीच तृनावर्त की घटना घट जाती है और यशोदा को एक गोपी का यह उलाहना सुनना पड़ता है कि वच्चे को इस तरह अकेला छोड़ना ठीक नहीं। तू घर के काम को वच्चे से भी अधिक प्यारा समझती है। जरा भी नहीं डरती। कान्हा की पहली वरसगांठ, यशोदा इस रूप में मनाती है :—

दो कपोल गहि के मुख चूमति
वरस दिवस कहि करति कलोल

वच्चा अब घुटनों चलने लगा है — यह देखकर नन्द और यशोदा फूले नहीं समाते। एक उसे इधर पुकारता है तो दूसरी उधर। उनकी इस हालफूल पर एक व्रजवासिनी उलाहना देती है,

कवहुंक दौरि घुटुरुवनि लपकत
गिरत उठत पुनि धावै री
इत हैं नंद बुलाई लेत हैं
उततें जननी बुलावै री
देखति होड़ करति आपुस में
स्याम खिलौना कीन्हों री

कितना चुभता व्यंग्य है ! नंद के इस सुख को नन्द ही समझ सकते हैं—

नन्द गहे अंगुरिया ललन की
नन्द चलन सिखावत हैं
अरवराइ गिरि परत हैं
कर टेक उठावत

इस तरह होते-होते एक दिन यशोदा की आशा पूरी हो जाती है। शिशु दो डग अव चलने लगा है—

कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी
जो मन में अभिलाषा करत हीं
सो देखति नंद धरनी

यह सव देखकर यशोदा या तो कृष्ण के लौकिक अस्तित्व पर विश्वास नहीं करना चाहती या फिर अलौकिक पर ! वह पूर्ण अवतारों का रटा-रटाया इतिहास दुहराकर कहती है—सूरदास अव धाम देहरी न चढ़ सकत प्रभु खरे अजान।

क्या पूर्ण अवतार इतना अजान भी हो सकता है ? अव वच्चे की वोली फूट पड़ी है और उसके साथ उसका हठ भी वढ़ रहा है। दहीं मथते, यशोदा को रोज इस हठ

का सामना करना पड़ता है । इसी के साथ बढ़ती है माँ की चिन्ता ।

सबसे आकर्षक और मनमोहक है कान्हा की एकांत लीलाएँ । यशोदा इन्हें बाल-विनोद कहती हैं । यह विनोद अपनी सहज स्वाभाविकता में विश्व मन के विनोद बन जाते हैं । ईर्ष्या का पहला उदय कल्पना में होता है, और तब वह जीवन की वास्तविकता बन जाती है । बालक कान्हा एक स्वच्छ घड़े में अपनी परछाई देखता है, वह समझता है कोई दूसरा लड़का घड़े में घुसा-घुसा मक्खन खा रहा है । मनुष्य सब कुछ कर सकता है परन्तु किसी दूसरे को अपने अधिकार या उपयोग में भागीदार बनना सहन नहीं कर सकता । पहले तो बच्चा नन्द के पास जाता है, और कहता है:—

मन में भाव करत कछु बोलत नन्द बाबा पे आयो
जा घट में काहू को लरिका मेरो माखन खायो

नन्द उसे प्यार करते है, समझाते है, परन्तु शंका—समाधान कर सकना उनके वश का रोग नहीं । तब बालक मां के पास जाता है, यह शिकायत लेकर—

••• • कह्यो जसुमति सों, •••••• मैं जननी सुत तेरो
आज नंद सुत और कियो, कछु न कियो आदर मेरो

माँ सब बात समझ गई । वह कुछ बोली नही । चुपचाप जा कर उन्होंने घड़ा उठाकर हिला दिया वहाँ कोई हो तो बाहर निकले ।

दोऊ कर पकरि हुलावन लागी घट में छवि नहीं पाई
कुंवर हंस्यो आनन्द प्रेमवश सुख पायो नन्दरानी
सूरत प्रभु की लीला जिन जानी तिन जानी''

कथन के प्रवाह में कोई अनूठी बात कह देना सूर की विशेषता है । इस मर्म को जो जान सकता है, वही जान सका है । यह ज्ञान अनुभूतिगम्य है, बुद्धिगम्य नहीं । जो अनुभव कर सकता है, वही जान सकता है । अनूयाभाव धीरे—धीरे मूर्त रूप ग्रहण करता है कान्हा और बलराम के झगड़े में । जसुमति के लिए यह नई समस्या खड़ी हो जाती है ।

खेलत खात गिरावहिं झगरत दोऊ भाई
अरस परस चुटिया गहे बरजत है माई

कभी कन्हैया पूछते है—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी
किती बार मोहि दूध पियत भई
यह अजहूँ है छोटी

इन मनोविनोदों मे सूर का कवि कृष्ण-जन्म का यह संकल्प दुहरा देता है—

मैया मोहि बड़ो करि लैरी,
दूध दही घृत माखन मेवा जो मांगों सो देरी
कछु हांथ राखे जनि मेरी, जोइ जोई मोहि रुचे री
हांऊँ वेगि में सबल सबनि में सदा रहो निर मेरी
रंगभूमि में कंस पछारो पीसी बहाऊं वैरी

जनमत ही को धूत
सूर श्याम मोहि गोधन की सौं,
हौं माता तू पूत ।

मां का मन सदैव आशंकाओं से घिरा रहता है। नंद शालिग्राम की पूजा में ध्यान लगाये बैठे हैं और कृष्ण मूर्ति उठा कर मुंह में रख लेते हैं—

पूजा करत नंद रहै बैठि ध्यान
खोजत नंद चकित चहूं दिसी, तें अचरज सौं कछु भाई
कहां गए मेरे इष्ट देवता को ले गयो उठाई

तुलसी जो काम कड़ी आलोचना से लेते हैं, सूर वही चुटकी से। यशोदा आकर कृष्ण के मुख से शालिग्राम का उद्धार करती हैं। कृष्ण के स्वभाव से यशोदा जितनी परिचित हैं उतने नंद नहीं। कवि के शब्दों में—

हंसत गोपाल नंद के आगे नंद स्वरूप न जान्यो
निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलाधाम ह्वोई सुतकरि मान्यो

नंद उन सिद्धान्तवादियों में है जो कृष्ण को निर्गुण का सगुणावतार मानते हैं परन्तु व्यवहार में उसकी प्रतीत उन्हें नही हो पाती। यशोदा भी इस स्थिति से अवगत हैं, परन्तु वह उनकी लौकिक लीलाओं में ही रस लेती है।

कृष्ण की माखन लीलाओं का संबन्ध मुख्य रूप से गोपियों से है। इन लीलाओं में जिस गोपी भाव का चित्रण है, वह वात्सल्य से अनुप्राणित है। एक गोपी भाव का चित्रण है, वह वात्सल्य से अनुप्राणित है। एक गोपी कृष्ण को यह कहते सुन लेती है कि मां मुझे माखन अच्छा लगता है। वह चाहती है कृष्ण उसके घर माखन खाने आवे। अंतर्यामी कृष्ण यह जान लेते हैं और एक गोपी के घर जाते हैं। माखन चोरी लीला का यह तो हुआ आध्यात्मिक प्रयोजन परन्तु कवि का प्रयोजन है कृष्ण के मानवी स्वरूप का उद्‌घाटन। सूर मनुष्य के बाल स्वभाव के पारदर्शी कवि हैं। वे हर लीला में मनुष्य स्वभाव की कोई न कोई झलक अंकित कर देते है। चोरी के उद्देश्य से कृष्ण एक गोपी के घर में घुसते हैं। सामने मणिमय खंवे में अपनी ही परछाई देखकर वह समझते हैं कि एक चोर साथी और मिल गया।

प्रथम में आजु चोरी आयो भलो बन्यो है संग,
आपु खात प्रतिबिम्ब खवावत गिरत कहत का रंग
जो चाहो सब देऊं कमोरी अति पीठो कत डारत
तुमही देत मै अति सुख पायो, तुम जिय कहा विचारत

यह, और ऐसी ही दूसरी घटनाएं हैं, जो अपनी बालसुलभ स्वाभाविकता से हमें बरबस मोह लेती हैं। बालक पहली-पहली चोरी में, साथी और मित्र को पा कर प्रसन्न है, वह परछाई को खिलाता है। वह हैरान है कि वह खाता क्यों नहीं ? मक्खन गिर जाता है, बालक समझता है कि थोड़ा दिया, इसलिए नहीं खा रहा है। वह कहता है मैं पूरी कटोरी दूंगा तुम खाओ तो सही ? फिर सोचता है, शायद खट्टा समझ कर नहीं खा रहा है। वह विश्वास दिलाता है, डरो मत, बहुत मीठा है यह। तुम संकोच

मत करो, तुम्हें देने में मुझे जितना सुख मिलता है, उतना खुद खाने में भी नहीं। इस प्रकार वर्णन के प्रवाह में, कोई मर्म की बात कह देना हृदय, को छूने वाला कोई स्वर छोड़ देना, सूर की सबसे बड़ी विशेषता है ! बाल-हृदय की, सूर जैसी अनूठी अभिव्यक्ति, विरल है। बात बनाने में कृष्ण का मुकाबिला कोई नहीं कर सकता। चोरी करते वह पकड़ जाते हैं। बहाना फौरन हाजिर। यह मेरा साथी इस घर में आ छिपा था, मैं उसी को ढूंढ रहा हूँ। और नौ दो ग्यारह। चोर की खैर कब तक। फिर पकड़ में आ गये, पूछने पर, वही बहाने बाजी कि मैं अपने घर जा रहा था, भूल से इस घर में आ गया।

घर में आना तो ठीक, पर मक्खन में हाथ क्यों ? उत्तर है "**देखत ही गौरस में चींटी काढ़न को कर नायो**—और तब अतिनागर की उपाधि से विभूषित हो कर चलते बने। इन लीलाओं को पढ़ कर कोई चाहे तो बालमनोविज्ञान का विशेषज्ञ बन सकता है। सचमुच सूर का वर्णन बालमनोविज्ञान की प्रयोगशाला है !

अब यशोदा का एक ही काम है, और वह है कृष्ण की नित नई शिकायतें सुनना। कभी किसी दधि भाण्ड को टूक-टूक और कभी किसी के बाबा आदम के जमाने के मटके का सफाया। किसी के बर्तन फूटे तो किसी को स्नेह की डोरी में फाँस लिया। यशोदा करे भी तो क्या करे ? वह झुझला कर कहती है "**नव-नव लाख धेनु खरिक घर तेरे तू कत माखन खात पराये**" पर क्या बालक का मन घर की सीमाओं में बांधा जा सकता है ? यशोदा की कठिनता बच्चे के भोलेपन को देखकर उस समय पिघल ही उठती है जब वह कहता है "**मैया मोरी मै नाहिं माखन खायो।**" हाथ का सोंटा गिर जाता है और बच्चे को वह भुजपाश मे भर लेती है। फिर भी उसे यह ताना सुनना पड़ता है—

तब काहू सुत रोवत देखत,
अब अपने घर के लरिकासों !
इति करति निठुराई,
ढोटा एक भयो कैसे हुँ करि
कौन कौन कर विधि जानी।

सबसे अधिक उपालम्भ सुनने पड़ते हैं उलूखल प्रसग पर। यह एक पौराणिक घटना है, जिसका सम्बन्ध यमलार्जुन की मुक्ति से है, परन्तु इसकी ओट में कुब्जा यशोदा पर उलाहनों की बौछार करने लगती है। धीरे-धीरे कृष्ण की लीलाएं वन के उन्मुक्त वातावरण में रंग पकड़ने लगती हैं। रेता परेनादि मित्र उनके साथ हैं—

खेलत हैं करि चैन
कोऊ गावत कोऊ मुरली बजावत
कोऊ विखान कोऊ वेनु।

उनका प्रति शाम वृन्दावन लौटना, गोपियों के आकर्षण का विशेष केन्द्र बन जाता है। कृष्ण की सार्थकता गोपियों से है और उनकी सुरक्षा कृष्ण से-**वृन्दावन मोको अति भावत।**

यदि कृष्ण कहते हैं, तो गोपियाँ भी स्वीकार करती हैं। **"गोकुल ग्वाल गाह गोसुत के ये ही राखन हार।"** कृष्ण चाहे घर में हो या बाहर यशोदा के भाग्य में आशंका ही लिखी रहती है। कृष्ण के अधरों पर जब से मुरली और सिर पर मोर-पंख अपना आसन जमाने लगता है तभी वात्सल्य, शृंगार में बदलने लगता है। गोपियों की यह ईर्ष्या और उत्सुकता इसी की पूर्व भूमिका है। एक गोपी कहती है—

सुन सखि वह बड़ भागी मौर,
जिन पंखनि को मुकुट बनायो,

दूसरी एक और कहती हैं :—

देखो री नंद नंदन आवत,
बेनु अधर धरे गावत।

राधा के प्रवेश से, उस भावना का विकास होने लगता है, जिसे आगे चलकर **लरिकाई को प्रेम** कहा गया है। लेकिन इस प्रेम का विकास होता है, यशोदा की स्नेहिल छाया में। वह कहती है :— **जहं तहं डारे रहत खिलौना राधा जानि लै जाइ, सांझ सबेरे आवन लागी चितै रहति मुरली तन चराइ।**

विप्रलम्भ वात्सल्य का आरम्भ होता है, अक्रूर के आगमन पर। कृष्ण के जाने के निश्चय से वृन्दावन पर जैसे पहाड़ टूट पड़ा।

है कोऊ व्रज नें हितू हमारो,
चलति गुवालहिं राखे,
कहा काज मेरे छगन मगन को
नृप मधुपुरी बुलायो
बस यह गोधन हरो कंस सब
माहि बंदि ले मेलो

कृष्ण के एवज में वे स्वयं बंदी बनने के लिए प्रस्तुत हैं, नन्द उसे बार-बार भरोसा दिलाते हैं, **भरोसो कान्ह को है मोहीं।** चिंता में यशोदा की रात बीत गई। कृष्ण का विदाई-संदेश यह है :—

अब नंद गांउ लेई संभारि,
जो तुम्हारे आनि बिल में दिन चराई चार
ये तुमरे गुन हृदय तें डारि हौं न विसारि
मातु जसोदा द्वार ठाढ़ी
चलै आंसु हारि।

अवधि की आशा दे कर कृष्ण मथुरा चले गये। देव-काज हो जाने पर नन्द, कृष्ण से वृन्दावन चलने का अनुरोध करते हैं, कृष्ण के इस आश्वासन पर कि **एक बेर व्रज लोग को मिली हौं सुनौं सोऊं,** नन्द का हृदय फट जाता है—

तुमि हंसि के बोलत ये बानी,
मेरे नैन भरत है पानी,
अब वे बोल कबहुं जनि बोलों,

तुम चलहु वृज आंगन खेलौं
पथ निहारति जसुमति व्है है
धाइ आप माला में ले हैं

बलराम सोच में पड़कर उन्हें समझाते है, पर नन्द अपनी हठ पर डटे है—

तुम्हिं छांड़ि मधुवन मेरे मोहन, कहा जाइ व्रज ले हों,

मर्म वचन की याद कर नन्द को वापस तो आना पड़ता है पर उनकी दशा वे ही जानते है, यशोदा को वह क्या उत्तर देगे ।

सोहन तुमहिं बिना नहीं जै हों
महरि दौरि दौरि जब आगे व्हैं व्हैं
कहा ताहि मे के हो

नन्द के जाते समय, कृष्ण का यशोदा के लिए यह संदेशा है—

हमे तुम्हें कछु अन्तर नाहीं
तुम जिय ज्ञान विचारो ।

फिर भी नन्द जी कृष्ण की बात मान लेते है, वह निष्ठुर ज्ञान के कारण, "निठुर उसमें ज्ञान वर त्यों, मान लीन्हौं बात" नन्द प्रस्थान करते है, पर उनके होश ठिकाने नहीं । धड़कता हृदय लिए वह वृन्दावन में पग धरते है, घर आंनदपूर्ण आशा में यशोदा और बच्चे स्वागत के लिए सबसे आगे है । पर अपनी आंखों के तारे को न पा कर उनकी ही नही समूचे व्रज की यह हालत है 'तेहि खन घोष सरोवर मानो पुरइन लोभ हुई' ।

मूर्छा आकुलता और सन्नाटा । यशोदा का आक्रोश नन्द पर टूट पड़ता है । वह कहती हैं "अब भय तात देवकी वसुयों, बांह पकरि ....
उनका शोक धीरे–धीरे उन्माद मे बदल जाता है :—

फूटी गई न तुम्हारी चारों कैसे मारग सूझे
इक तो जरि जान बिनु देखे अब तुम दीन्ही फूंकि
सूर श्याम बिछुरन हम पे देन वधाई लाए ।

काश उसका पति गिड़गिड़ा कर वसुदेव से पुत्र मांग लेता ।

'काहे न पा घरे वसु के घालिपाग भर फंद,

एक गोपी के ये वाक्य, आग मे घी का काम करते है— तब तू मारिबोई करती— वत्सल्य की इसी वियोग धारा में विप्रलंभ शृंगार के बीच पड़ जाते है, एक ग्वाल गोपियों को कृष्ण-कुब्जा-मिलन की सूचना दे देता है । समूचा व्रज–चित्र खिचा सा रह जाता है—

कठिन करे जसोदा माता नैननि नीर भरे असरार,
चितवत नन्द ठगे से ठाड़े मानो हारयो हम जुआ ।

यशोदा के इन शब्दो मे उनका मातृत्व जैसे हाहाकार कर उठता है—

नन्द व्रज लीजै ठोंकि बजाइ
क्यो कि—भूमि समान विदित यह गोकुल

मनहु धाय के खाय

उसका वात्सल्य दैन्य की समस्त सीमाओं को लांघ जाता है—

दासी है वसुदेव राह की दीसन देखत रे हो,
मोहि देखिके लोग हंसेगे अरु किन कान्ह हंसे,

वह समझती हैं, वसुदेव हंसी कर रहे है।

"पठै देहु मेरें लाल लड़ैतैं।
वारों ऐसी हंसी,,

उसका एक ही तर्क है :—

अब इन गोपिन कौन डरावे
भरि भरि लेत हिए

वियोग वात्सल्य की दूसरी भूमिका शुरु होती है उद्धव के आने से। उद्धव के सम्मुख कृष्ण विना किसी हिचक के स्वीकार करते है—

कहं माखन रोटी कहं जसुमति
जेवहु कहि कहि प्रेम,।

फिर वह यह संदेश कहला भेजते हैं—

ऊधौ इतनी कहियो जाय,
हम आवेगे दोऊ भैया,
जाको हम पठ्यो धाई

कृष्ण के इस संदेश में उनकी कृतज्ञता का प्रकाशन है। देवकी अपने संदेश में कहती हैं—

आइ मिलि जाति कबूं कबहुंन श्याम अरु बलराम
बाल सुख सब तुमहिं लूट्यों मोहिं मिली कुमार

संदेश एकदम सीधा सच्चा। परन्तु सूर की यही विशेषता है कि उनकी बात जितनी सीधी होती है उसमें उतना ही तीखा व्यंग्य होता है। देवकी का उलाहना है कि कृष्ण के बचपन का सुख वो यशोदा ही ने लूटा, उने तो दोनों भाई कुमार रूप में मिले। भला कुब्जा कब चूकने वाली थी, जो बात देवकी शालीनता में लपेट कर कहती है, कुब्जा उसे ठेठरूप में, परन्तु उसका मुख्य लक्ष्य गोपियाँ हैं, यशोदा भी उसमें आ जाती हैं।

मातु पिता को हेतु समझु के श्याम मधुपुरी आये
नाहिन कान्ह तुम्हारे, प्रीतम ना जसुदा के जाये

इनके बाद कुब्जा अभियोगों की झड़ी लगा देती है। उद्धव का रथ घर घरर करता हुआ व्रन्दावन में पहुँचता है। यशोदा और नन्द धड़कते हृदय से पूछते हैं,

कबहुं सुरत करत गुपाल हमारी
पूछत पिता नन्द उधौ सों
अरु जसुदा महतारी

दोनों एक यही बात जानना चाहते हैं—

उधौ कहो सांची बात

दहि मत्थौ नवनीत माधव कौन के घर खात,

वे कल्पना भी नहीं कर सकते कि कृष्ण को वृन्दावन से अधिक सुख मिल सकता है। सबसे बड़ा दु:ख नन्द को यह है कि जब वे दूसरों के लड़कों को खेलते देखते हैं, उनका हृदय आहत हो उठता है—

डुहति देखि आबि के लरिका,
प्रान निकसि नहीं जात,

इस प्रकार नन्द का दु:ख तो प्रसंगवश है। यशोदा को तो जीना दूभर हो गया है। कृष्ण आने का आश्वासन नही देते, तो वह उन्हें जाने ही नही देतीं। वह पूछती हैं—

तब तुम भेटे काहे को आए,
मथुरा क्यों न रहे जदु नंदन
जो पे कान्ह देवकी जाये।

यह देवकी के प्रश्न का उत्तर है, वह कुछ नहीं चाहतीं। एक बार अपनी आँखों के तारे को जी भर देख लेना चाहती हैं। देखा तो बहुत है पर उस देखने से अब के देखने में बहुत अन्तर है।

गोपालहिं पठै देहु हम देखे,
एकबार मिलि जाहु पाहुने,
जनम सफल करि लखैं इतनी शील करैं या लारौं
यहै निहारो मानै, अपने ते हैं हैं न पराये
यह प्रतीत जिय आने

देवकी इस प्रश्न का कि यशोदा मधुवन आ कर कृष्ण को देख जांय वह उत्तर देती हैं—

कौन घाहि हम कीन्हीं,
मैं तुम्ह रे डोटा के बदले,
तनय कन्स बलि दीन्हीं।

यशोदा वियोग का दुख सह सकती है, पर अपने नारीत्व पर की गई चोट नहीं। क्या कृष्ण सेंत मेंत में उसे मिल गये? अपनी नवजात कन्या, कंस के हत्यारे हाथों में सौपने के लिये देकर क्या उसने अपनी सिसकती मासूम ममता दांव पर नहीं लगा दी? वह न तो विनिमय था और न प्रतिमूल्य? देवकी यह क्यों भूल रही हैं कि यशोदा ने उनके कृष्ण को पाला पोसा ही नहीं जीवन-दान भी दिया है? बदले में उन्हें मिला क्या? नही नहीं वह ऐसा सोच ही नहीं सकतीं। उन्हें वात्सल्य का प्रतिदान नहीं चाहिये। उसका प्रतिदान वही है, और है प्राणों का मूक उत्सर्ग! कुब्जा की बात का जवाब यशोदा नहीं देती आखिर क्यों? कुब्जा का उत्तर देने के लिये गोपियां हैं। क्योंकि शृंगार में जो ईर्षा का विषय है वात्सल्य में वही उपेक्षा का। जिस प्रकार प्रथम संयोग–वात्सल्य में से सयोग–शृंगार का विकास होता है, उसी प्रकार वियोग–वात्सल्य से विप्रलम्भ–शृंगार का! विप्रलम्भ--वात्सल्य की इस

इस धारा की गूंज एक बार फिर उस समय सुनाई देती है, जब उद्धव अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं। कृष्ण के सम्मुख वह कहते हैं—

नंद जसोदा मारग जोवति निसदिन सांझ सकारे,
चहु दिस कान्ह कान्ह कहि टेरत अंसुवन बहत पनारे.

अंत में कृष्ण को स्वीकार करना पड़ता है:—

उधो मोहि व्रज बिसरत नांहि,
वृन्दावन उपवन सघन की कुंज की छांहि,
प्रात: समय माता जसुमति अरनंद देख पावत,
माखन रोटी दह्यौ सजायो अति हित साथ खवावत
अनगन भाँति करी बहुलीला जसुदा नंद निबाहीं,
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै यहि कहि कहि पछिताहीं

कृष्ण के इन उद्‌गारो मे उन बातों का उत्तर निहित है जो नंद ने उद्धव से पूछा था। अपने प्रिय का पश्चाताप ही सूर के इस वात्सल्य का एकमात्र उपहार है।

+++++++
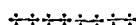
४ | "मुरलिया"

दसवें स्कन्ध में मुरलिया का प्रवेश, सूरसागर की एक महत्वपूर्ण घटना है, इसकी गूँज बहुत दूर तक सुनाई देती है। इस मुरलिया के कई संदर्भ हैं। दार्शनिक संदर्भ में वह योग माया की प्रतीक है, सगुण लीलागान के संदर्भ में रासलीला की मधुरतम पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। गोपियों की प्रणय लीला के संदर्भ में एक अघटित घटना है और सूर के कवि के संदर्भ में वह प्रेमाभक्ति की सिद्ध साधिका है। समूचे सूरसागर में दसवें स्कंध का जो महत्व है, वही महत्व दसवें स्कंध में मुरलिया का। **ताते सूरसगुण लीला पद गावै**-इस प्रस्तावना पद में कवि जिस साहित्यिक संकल्प की घोषणा करता है, वह इसी अध्याय में पूरा होता है। क्योंकि कृष्ण की मानवीय लीलाओं का चित्रण इसी स्कंध मे है। डा० हरवंशलाल शर्मा ने प्रस्तुत तथ्य को ध्यान में रखकर तीन प्रकार के पदों की कल्पना की है— वर्णनात्मक पद, गेयात्मक पद और भक्ति अथवा दार्शनिक पद। इनमें पहली दो श्रेणियाँ तो ठीक हैं, परन्तु भक्ति या दार्शनिक पदों की धारा सूरसागर में स्वतंत्र नहीं है। वह गेयात्मक पदों में ही आ जाती है, सूर ने भक्ति का प्रतिपादन किसी-न-किसी संदर्भ के अधीन किया है। आगे चलकर डा० शर्मा लिखते हैं "सूर का लक्ष्य न तो भक्ति का विवेचन था और न दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेपण, किन्तु भावुकता की खण्डधारा में बहता हुआ कवि अनजाने ही बहुत सी ऐसी बातें कह जाता है जिनका संबन्ध दार्शनिक जगत से जोड़ लिया जाता है।" पहले कथन के संदर्भ में इस कथन में कुछ विरोधाभास सा लगता है। एक ओर सूर के पदों में हम दर्शन स्वीकार करते हैं, और दूसरी ओर भावुकतावश माया समझते हैं। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि सूर में भावुकता की अटूट धारा है, परन्तु उसमें जो दार्शनिक नियोजन है, वह भावुकता की उड़ान या अनजाना न होकर सुनियोजित और जानबूझ कर है। वह कोरी बहक नहीं, बल्कि निश्चित चिंतन है। सूर का कवि मनुष्य की भावुकता को जिस गहराई से कुरेदता है, उसकी बुद्धि को भी उतनी तेजी से तरंगित करता है।

सागर की गीतधारा में प्रबंधात्मकता के जो स्थल हैं, 'मुरलिया' भी उनमें से एक है। दसवें स्कंध के दो भाग हैं। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। पहले में पूतना के वध से लेकर श्रीकृष्ण के अक्रूरगृह तक आने की घटनाएँ हैं और दूसरे में कालयवन-दहन से लेकर अर्जुन को निजरूप-दर्शन तक की घटनाएँ। श्रीमद्भागवत में भी यही क्रम है।

परन्तु सूरसागर में उत्तरार्ध की तुलना में पूर्वार्ध ही विशेष महत्व रखता है। मानवीय लीलाओं का चित्रण श्रृंगार का रस राजत्व हठयोग पर प्रेमाभक्ति की विजय आदि प्रसंग इसी में हैं। पूर्वार्ध की कथावस्तु के भी स्पष्ट रूप से दो भाग हैं। पहला भाग पूतना के वध से लेकर वसन्त-लीला तक समाप्त हो जाता है, जबकि दूसरा भाग अक्रूर के व्रजगमन से प्रारम्भ होकर, कृष्ण के अक्रूरगृह-गमन पर समाप्ति पर आता है। पहले में श्रृंगार का संयोग—पक्ष है और दूसरे में वियोग-पक्ष। भ्रमरगीत इसी का एक अंग है। ठीक इसी प्रकार "मुरलिया' पहले का महत्वपूर्ण अंग है। ये दोनों प्रसंग अपने आप में परिपूर्ण हैं। डा० शर्मा ने ठीक ही कहा है" मुरली का विषय सूर का एक स्वतन्त्र विषय है जिसको लक्ष्य करके न जाने कितने-कितने नवीन भावों की मनोवैज्ञानिक उद्‌भावनाएँ सूर ने की हैं। मुरली के विषय में भी उनका एक पृथक काव्य बन सकता है।

'मुरलिया' प्रसंग भागवत में 'वेणुगीत' शीर्षक में है। वर्षा और शरद्‌ऋतुओं के वर्णन के बाद 'वेणुगीत' प्रसंग आता है। भागवतकार के अनुसार यह भी कृष्ण की एक लीला है। और इसके लिए उन्होंने एक प्राकृतिक पृष्ठभूमि दी है।

भागवत में वेणुप्रसंग दो बार आया है। एक स्वतंत्र जो 'वेणुगीत' में है और दूसरा रासलीला के संदर्भ में, जो बहुत छोटा है। वेणुगीत से रासलीला के बीच चीरहरण की लीला से लेकर नंद-मुक्ति तक की घटनाएँ हैं। कुल २० श्लोकों के वेणुगीत की कहानी यह है कि गोपियाँ वेणुगीत सुनकर आपस में बातें करने लगती हैं। उनके मत से वेणु की दो विशेषताएँ हैं—एक तो यह 'स्मर' को जगाता है और दूसरे 'स्मृति' में कृष्ण की लीलाओं को साकार कर देता है। और तब वे प्रिय की लीलाओं का साक्षात्कार करने लगती हैं। एक गोपी कहती है "आखिर इस वेणु ने पुरुष होकर ऐसा क्या किया कि जो वह प्रिय की अधर-सुधा का (जो गोपियों के लिए है) पान स्वयं कर लेती है। इस कथानक में थोड़ी सी ईर्ष्या की झलक है। परन्तु गोपियों का यह भाव वृन्दावन की उन सभी वस्तुओं के प्रति है जिनका कृष्ण से तनिक भी घनिष्ठ संबंध है। उनकी यह ईर्ष्या हेयताजन्य है न कि स्पर्धाजन्य। इस प्रकार भागवत का वेणुगीत स्मरण गीत है और प्रिय से मानसिक मिलन का एक माध्यम है। रासलीला के प्रारम्भ में वेणुसंबंधी पद इने गिने हैं। कृष्ण बासुरी पद 'कामबीज' तान छेड़ देते हैं और गोपियाँ वहाँ दौड़ी चली आती हैं। भागवत १०।२९।३१:। उनका प्रत्यक्ष मिलन होता है। लेकिन घर की परवशता से जा नहीं सकीं, वे घर में ही अपने मानसिक ध्यान में उन्हें पा लेती हैं। भागवतकार बार-बार यह भी याद दिलाते हैं कि वेणु का चराचर पर प्रभाव पड़ता है।

भागवत की तुलना में सूरसागर में 'मुरलिया' के प्रसंग कई है। जैसे (१) मुरली-स्तुति प्र० ४८० से ४९३ तक (२) गोपीगीत प्र० ४४२ से ४४९ (३) गोपी वचन मुरली के प्रति (४) मुरली वचन परस्पर (५) श्रेणी वचन परस्पर प्र० ६९२ से लेकर ७३५ पदों तक (६) रास पंचाध्यायी के प्रारम्भ के पद।

इसके पहले भी गोचारण और व्रज प्रवेश शोभा के संदर्भ में मुरली पर एक दो

उक्तियाँ हैं। इनमें श्याम, रेता, पेता, मनसुखा आदि बालसखाओं के साथ पनघट जाने की उत्सुकता प्रकट करते हैं। यदि उन उल्लेखों को हम छोड़ दें तो मुरलिया से सम्बन्धित पदों को, हम स्पष्ट रूप से दो भागों में रख सकते हैं। पहले भाग में मुरली स्तुति और रासलीला के प्रारम्भिक पद आते हैं। और दूसरे में गोपी-मुरली-वचन वाले पद।

पहले पद रासलीला से पूर्व के हैं, और दूसरे पद उस के बाद के। पहले भाग में 'मुरली स्तुति' के पदों में भागवत के 'वेणुगीत' का प्रभाव बहुत कम है। सूर ने इसके लिए कोई प्राकृतिक प्रष्ठभूमि नहीं दी, वे इनमें गोपियों की प्रतिक्रिया का वर्णन अधिक करते हैं। सर्वत्र कवि की मौलिक कल्पना सक्रिय है। सच तो यह बात है कि भागवत में वेणुगीत और रासलीला के बीच जो अन्तर है सूर ने उसे यहाँ मिटा दिया है। भागवत में वेणुगीत परोक्ष मिलन कराता है जबकि 'मुरली स्तुति' प्रत्यक्ष मिलन। भागवत की गोपियों में जो झिझक और द्विधा है सूर की गोपियों में उसका नाम भी नहीं। 'मुरली स्तुति' यह नाम सूरसागर के संपादकों ने दिया है। इस नाम से यह भ्रम हो सकता है कि इसमें गोपियों की प्रशंसा होनी चाहिए। पर बात ऐसी नहीं है। यथार्थ में मुरली-स्तुति और रासलीला के पदों को एक साथ रखा जा सकता है। यह प्रसंग रासलीला की आवश्यक भूमिका अदा करता है। इसे हम 'पूर्व मुरली गीत' कह सकते हैं। इसी प्रकार रासलीला के बाद के मुरली सम्बन्धी पदों को 'उत्तर मुरलीगीत' शीर्षक देना चाहिए। इसका कारण यह है कि भ्रमरगीत की तरह मुरलीगीत का भी एक अपना कार्य है। भ्रमरगीत में जो काम कुब्जा करती है, मुरली गीत में वह काम स्वयं मुरली करती है। फिर भी गोपियाँ मुरली को अपना लेती हैं, कुब्जा को नहीं। भागवत में वेणुगीत के अनन्तर चीरहरण से लेकर नन्द-मुक्ति के घटनाक्रम के बाद महारास होता है, जब कि सूरसागर में मुरली-स्तुति से ही रासलीला प्रारम्भ हो जाती है। राधाकृष्ण की बालकिशोरलीलाओं का अंकन इसी में है। भागवत में यह प्रसंग है ही नहीं। राधा के पुनरागमन के साथ यह लीला समाप्त होती है। इसके बाद चीरहरण आदि लीलाओं का वर्णन है। नन्द की मुक्ति के बाद ही सूरसागर में रास-पंचाध्यायी का प्रारम्भ होता है। सूर कहते हैं— जाको व्यास बरतन रास ?

हे गन्धर्व बिवाद चित्त दे सुनो विविध विलास   १० ।१७७१

इस प्रकार इसमें यौवन-लीलाओं का चित्रण है। यह लीला समाप्त होती है

गोप्य: किमाचरदयं कुशल स्म वेणु.,
दामोदराधर सुधामपि गोपिकाना
..................स्वय भु——————श्रीमद्भागवत
अंतगृहगता कश्चित गोप्यो लब्ध निर्गमा :
कृष्ण तदभावना युक्ता दध्यु मीलित लोचना :
दु: सह प्रेष्ठविरह तीव्र तापधुना शुभा :
ध्यानप्राप्त। च्युना शेष।

१०/२९/९

श्री कृष्ण-ज्योनार के साथ । तब आता है उत्तर भ्रमरगीत प्रसंग । भागवत से सूरसागर के घटनाक्रम में जो अन्तर है उसका कारण है राधा के प्रणय-संदर्भ में कृष्ण की मानवीय लीलाओं का समावेश । अक्रूर की व्रजयात्रा से यह प्रसंग समाप्त होता है ।

दसवें स्कन्ध के पूर्वार्ध का प्रथम भाग यहीं समाप्त समझना चाहिए । इसके बाद अक्रूर की व्रजयात्रा से विप्रलंभ की भूमिका आ जाती है ।

वस्तु—विवेचन के बाद अब हम मुरलीगीत के कथ्य पर आते हैं । इसमें संदेह नहीं कि इन गीतों के कथ्य में एक क्रम है । "पूर्व मुरली गीत" में गोपियाँ मुरली की टेर सुनती हैं और 'जो जैसे सो तैसे' रह जाती हैं और तब कवि कहता है **चलीं व्रजवारी सुत देह गेह विसारी**—वहाँ जा कर देखती हैं कि यमुना-तट पर तमालतरु तले, सांवरिया त्रिभंगी मुद्रा में खड़ा है । उसके रूप की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ गोपियों में होती हैं और सूर का कवि विस्तार से उनका चित्रण करता है : ६२५ से ६४१ पदों तक : इस रूप-प्रतिक्रिया का अनिवार्य परिणाम है :—

गोपी तजी लाज संग श्याम रंग भूलीं
पूरन मुख चन्द्र देखि नैन कोई झूली

सौन्दर्य का उन्माद उन पर छाने लगता है

एक एक अंग पर रीझी
अरुझी मुरलीधर को

सौन्दर्य के प्रति इस पूर्ण समर्पण से उनमें जो प्रेमोदय होता है उसकी पहली किरण है ईर्ष्या । उन्हें श्याम का सब कुछ अच्छा लगता है, पर मुरलीधर रूप पसंद नहीं । उनकी पहली प्रतिक्रिया है :—

बंसी री बन कान्ह बजावत
सुरनर मुनि बस किये रागरस
अधरसुधा रस मदन जगावत (६४८)

गोपियों को स्वीकार करना पड़ता है **'मुरली तीन लोक प्यारी'**

फिर भी वे उसका श्याम पर एकाधिकार सहन नहीं कर सकतीं । अब मुरली दिनोंदिन गर्वीली होती जा रही है, उसे किसी की चिन्ता नहीं ।

माई री मुरली अति गर्व काहुं बदति नांहि आजु
हरि के मुख कमल देख पायो सुख राजु

कृष्ण को मुरलिया ही अच्छी लगती है— **मुरली तऊ गोपालहिं भावति**

यहाँ से सामान्य ईर्ष्या "सौतियाडाह" का रूप ले लेती है । उनका गुस्सा मुरलिया पर बरबस बरस पड़ता है । 'मुरली' से उन्हें तनिक भी भलाई की आशा नहीं । सचमुच मुरलिया वन की व्याधि थी जिसे श्याम ने अपने घर बसा लिया है ।

जिहि तन अनल दसो कुल तासों कैसे होत भलाई ।
अब सुनि सूर कौन विधि कीजै, वन की व्याधि मांझ घर आई । ६५४ ।

श्याम का अहर्निश मुरलिया के साथ रहना, गोपियों को सबसे अधिक खलता है । ईर्ष्या के इस उतार—चढ़ाव में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि इसमें मुरलिया

का दोष नहीं, श्याम स्वयं राग की डोर से बंधे हैं ।

सूरदास प्रभु को मन सजनी बंध्यो राग की डोरि ६५७

इसके बाद ही रासलीला का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है। मुरलिया की ध्वनि सुनकर गोपियाँ ठगौरी में फंस जाती हैं। उनका भय जाता रहा। मुरली के प्रति सचमुच की कृतज्ञ हैं, क्योंकि रसराज-मर्म वे उसी की कृपा से जान सकीं।

रास रस मुरली ही तें जान्यो १०६९

'उत्तर मुरली गीत' आरम्भ होता है ग्वाल-सखाओं के साथ बाल-क्रीड़ा से ।

रीझत ग्वाल रिझावत श्याम १२१७

बीच में मुरली की तान छिड़ जाती है, और गोपियाँ उसे सुनकर प्रेम हिंडोले में झूमने लगती हैं। **मुरली सुनत देत गति भूली ।**

गोपी प्रेम हिडोले झूली १२१९.

आकर्षण की उत्कंठा में उन्हें क्षणभर का भी विरह सह्य नहीं। उधर मुरली उन्हें श्याम से मिलने नहीं देती।

अधर रस मुरली लूटन लागी
जारस को षटरितु तब कीन्हा
कहं रही कहां ते यह आई,
कोने याही बुलाई ।
चकित भई व्रजवासिनी
यह तो भली न आई
सावधान क्यों नहि होत तुम,
उपजी बुरी वजाई
सूरदास प्रभु हम पर ताको
कीन्हो सोत वजाई । १२२१ ।

मुरली से भलाई की आशा नहीं की जा सकती उसके सब गुण उल्टे हैं:—

मुरली नाम गुन विपरीत
खीन मुरली गहै मुरअरी रहत निसदिन प्रीति,
कहत वंसी छिद्र परगट हूयै छुयै अंग
नैनहु मन मगन ऐसे, काल गुनत वितीत
सूर त्रेसों एक कीन्है रीझि त्रिगुन अतीत । १२५१ ।

अपनी निष्ठा से मुरलिया ने काल को भी जीत लिया है, और तीन गुणों को एक कर वह त्रिगुणातीत से प्यार करने लगी है। और अब वह **"प्रिय मुख सुधा विलास विलासिनी"** है, और है **"गीत समुद्र की तरी।"** श्याम उसे एक पल के लिये भी नहीं टालते, **"मुरली श्याम अधर नहि टारत" : १२३० :**

"मुरली श्याम तन मन धन" : १२३६ :

श्याम उसके अधीन हैं, वह उन्हें नाना नाच नचाती है। वह उनके मुख लग चुकी है।

मुरली हरि को भावै री
सदा रहति मुखही सौसलागी
नाना रंग बजावै री,
गिरिधर को अपने वस कीन्हौ
नाना नाच नचावै री
उनको मन अपनो कर लीन्हौं
भरि भरि वचन सुनावै री : १२३८ :

उसका एक-एक शब्द जादू का काम करता है:—

मुरली वचन कहति जनु टोना : १२४१ :

मुरली अब उनकी पक्की सौत बन गई है—

मुरली हमकौ सौत भई
नैकु न होत अधर तैं न्यारी जैसे तूसा उई
इहं अंचवती उंह डारति लै लै जल थल बनिनि वई : १२४०

सचमुच नई अघोरन से उनका पाला पड़ा है कि वह गोपियों का भी हिस्सा चट कर जाती है।

मुरली हम पर रोष भरी,
अंस हमारौ आपुन अंचवत नैकहूं नाहिं डरी : १२४१ :

और तो और, उसने विधाता के भी कान काट लिये है:—

चारि वदन उपदेश विधाता थापी थिर चर नीति
आठ वदन गरजति गरवीली क्यों चलि है यह रीति,
एक बेर श्रीपति के सिखयै उन आयौ गुरु ज्ञान
याकै तौ नंदलाल लाडिलौ लग्यौ रहत नित कान
एक मराल पीठि आरोहन विधि भयौ प्रवल प्रशंस
इनतौ सकल विभान कियै गोपीधन मानस हंस । १२.७ ।

इस प्रकार वियोग में जो काम 'भक्ति की विजय' गोपियां करती हैं, संयोग में वही काम मुरलिया करती है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह सुख की सार्वजनीनता में भी, अपने लिये दु:ख का विषय ढूढ़ लेता है। आत्मवादी दृष्टिकोण से हम जितना अधिक सोचते हैं, दु:ख उतना ही अधिक होता है। गोपियां कहती है—

थाकै गुर सब सुख पावत हमकौ विरह बढौयौ १२४१

वे समझती हैं कि उनके विछोह का एकमात्र कारण मुरलिया है :—

मुरली तै हरि हर्माहि विसारी
वन की व्याधि कहां यह आई
देति सबै मिलि गारी । १३५० ।

और उनकी पहली गारी है—

सुनहु री मुरली की उत्पत्ति
वन में रहति वांसकुल या कौ यह तो या की जती

जलधर पिता धरनी है माता अवगुण कहो उघारी
पनहुँ ते याको घर न्यारौ निपटहिं जहां उघारी
बिसवासिन पर काज न जानैं याकै कुल को धर्म
सुनहु सूर मेघनी की करनी अरु धरनी के धर्म" १२५६

भारतीय स्वभाव का कैसा सुन्दर चित्रण है ? जब कुछ नहीं बनता तो हम दूसरे की जात उखाड़ने लगते है। गोपियां कहती है कि मुरलिया के पिता मेघ, बरसकर धरती को भर देता है, परन्तु चातक प्यासा रहता है, इसकी मां धरती भी कम नहीं है। वह सबको जन्म देती है, परन्तु स्वयं कुंआरी है। सच तो यह है कि श्याम ने अनबूझे ही उसे पटरानी बना दिया है।

ताकी जाति श्याम नहिं जानी
बिन बूझे बिनहि अनुमानै करि बैठि पटरानी १२६२

मुरली ने गोपियों के तप का फल छीन लिया है—

हम तप करि तनु गार्‌यो जाकों
सौ फल तुरत मुरलिया पायौ
करि हरि कृपा ताकौं।

तिस पर भी कृष्ण का स्वभाव है—

सन्मुख से विमुख कहावै
विमुख करै सुखराज १२६५

इस प्रकार, हर दृष्टि से गोपियाँ स्वयं को मुरली की तुलना में हेय समझती हैं। इसमें श्याम का भी दोष कम नही, क्योंकि मुरली–श्यामहिं मूंड़ चढ़ाई।

इसका फल है "आपु लूटत अधर सुधारस हरि, हमकौ दूर कियौ" १२७६ गोपियों को यह भी शक है कि मुरली ने उनके श्याम को बदल दिया है "मुरली श्यामहिं और कियौ"। और यह भी कि "वाहि के बल श्याम धेनु चरावत"। उनकी जोड़ी भी फबती है, "वे अहीर वे बैनु" तथा "सूर श्याम बनवारी, वह बनवारी कहावत"। अगर ऐसा ही है तो गोपियां पूछती हैं—मुरलीपति क्यों न कहावत

राधापति कहिये सुनत लाज जिय आवत

उन्हें विवाह करना ही था तो किसी कुलीना से करते। इसमें गोपियां भी खुश रहतीं "जौ यह ठाठ ठाटि वोहि राखौ कुल की होती कोई"

इस तरह गोपियों की खीज कभी मुरलिया पर और कभी संवरिया पर उतरती है। भ्रमरगीत के बहुत भाव और उक्तियां मुरलिया-गीत में हैं, केवल प्रसंग का अन्तर है। गोपियां श्याम का दो नाव पर सवार होना पसन्द नहीं करतीं—

काहे को दो नाव चढ़त है
अपनी विपत्ति करावत,

यहां से फिर वे कृष्ण से अपनापन बढ़ाने लगती हैं:-

वृथा तुम श्यामहिं दुखन देति
जो कछु कहौ सबै मुरली को मन धौ देखो चेति

पहले आई प्रीति बड़ाई को जानै यह द्यात"

सच पूछिये तो अपराध गोपियों का ही है कि उन्होंने श्याम से मुरली वजाने को कहा :–

"हमहि कहति बजावहु मोहन यह नाहि तब जानी
हम जानी यह बाँस बसुरिया को जाने यह पटरानी
बारै मुंह लागत लागत अब ह्वै गई सयानी
सुनहु सूर हम भोरी भारी याकि अकथ कहानी" (१३१४)

यहाँ पर गोपियों का अपूर्व पक्ष समाप्त होता है। मुरलिया आखिर कब तक सुनती ? वह विना किसी आवेश के शात स्वर मे कहती है .— गोपियाँ मुझे उलहाना मत दो, क्योंकि मैने जो कुछ पाया है, वह आत्म-साधना से पाया :—

"ग्वालिनी तुम कत उरहनि देहु
पूछहू जाई श्यामसुन्दर को
जिहि विव धुरै सनेहु"

इस तरह अपनी कहानी वे एक सांस में कह सुनाती है। उसका यही दर्शन है:—

बकत कहा बांसुरी कह कह, करि करि तामस तेहु
सूर श्याम इहि भांति रिझै किनी तुन अनधररस लेहु" (१३३०)

कृष्ण उसे सेतमेत में नहीं उठा लाये—

"जो श्रम में अपन तन कीन्हों
सो अब कहो बखानी
सूरदास प्रभु वन भीतर ते
तब अपने घर आनी"

गोपियों का उसे कोसना व्यर्थ है और अज्ञानजन्य भी। उन्हे अपने किये पर पछताना होगा; क्योंकि—

"जब सुनिहौं करतूति हमारी
तब मन मन तुम्हि पछतेहों
वृथा दई हम याको गारी
तुम तप कियौ सुन्यौ हम सोई
रिप पावहुंगी और कहारी
नो समान तुम तप नहि कीन्हों
सुनहु करो जनि सौर वृथा हो

वह वांस वंसुरिया है तो क्या ?

मैं बसुरिया बाँस की जो तो भई अकुलीन
पीर मेरी कौन जाने छांड़ि एक करतार" । १३३३ ।

मुरलिया साफ शब्दों में स्वीकार कर लेती है:—

सुनो इक बात वृजनारी
रिप किये पावति कहा हो कहा दीन्हें गारी

जाति उघटति भांति उघटति लेति हौं जब मानि
तुम कहत मैं हूँ कहत सोई मोहि बनते आनि । १३३५ ।

वह गोपियों को विश्वास दिलाती है कि जब वे उस जैसी साधना कर श्याम की अधरसुधा प्राप्त कर लेंगी, तब वह उनकी दासी बन जायेगी—

श्रम करिहौं जब मेरौ सो
तब तुम अधर सुधारस विलसहु
मैं व्है रहिहौं चेरी
बिना कष्ट यह फल न पाइयों
जाति हो अब डेरी सी

यह सुनकर गोपियों का हृदय बदल जाता है। उन्हें लगने लगता है, मुरलिया सौत नहीं, तपस्विनी है उससे ईर्ष्या नहीं, प्रेम करना चाहिये।

हम जान्यों यह गर्व भरी है साधु न याते और
रीझ लियौं हरि को तप के बल वृथा करौ तुम सौर
सूर श्याम वहु नामक सजनी यही मिली इक आई
तुम अपने जो नेम रहोगी नेम न करते जाई

मुरलिया की तान सुनकर उनकी यह दशा है:—

सूर व्रजनारि सुनत परस्पर दुःख सुख पावत

सुख इसलिए कि वह सुनने में मीठी लगती है, दुख इसलिये कि वे साधना में कच्ची हैं। वे कहती हैं "मुरली श्याम बजावन देरी"

मुरलिया के प्रति अब उनका यह दृष्टिकोण है—

हम यासौ रिस वृथा करति हौ
तब इहि कदरि न पाई
मैं जाति यह निठुर काठ की
नरम बांस की जाई । १३५९ ।

अब वह राधा की प्रशंसा की पात्र है, वह मुरलिया को अपने रिश्ते की बहन मानती है। यह रिश्ता साधना का ही हो सकता है। दोनों की भूमिका, गोपियों से ऊंची है।

इस पकार दोनों मुरलिया गीतों में मुरली कई भूमिकाएं ग्रहण करती है। 'पूर्व मुरलिया गीत' में वह जादूगरनी है जो सब का मन मोह लेती है। मोहन की चिरसंगिनी है और है तीन लोक से न्यारी, कृष्ण पर एकछत्र शासन करने वाली पटरानी। वह रास रस की मर्मज्ञ ही नहीं, पूर्ण व्याख्याता है। वह ईर्ष्या की पात्र बनती है। 'उत्तर मुरलिया गीत' में वह सौत ही नहीं कुलटा है। दूसरों को बुरा करने वाली और कृष्ण की मुँह लगी हैं। गोपियों के भाग्य पर तुषारापात करने वाली अकथ्य कहानी से भरी हुई है। अन्त में वह श्याम की प्रेम-साधिका, और गोपियों की शिक्षिका है। वह तपस्वनी शांत और विनीत है। समर्पण का एक स्वर मात्र है। वह प्रेम रस की सफल साधिका ही नहीं है, अपितु प्रेम तत्व की प्रसारिका भी है।

++++++++

५ | संयोग-शृंगार

"रति" काव्य की ही नहीं, सृष्टि की भी एक व्यापकतम वृत्ति है। उसका अस्तित्व सृष्टि के मूल में था, और उसके विकास में भी वह है। ईश्वरवादी तो सृष्टि को रागमूलक मानते ही हैं, परन्तु अनीश्वरवादी भी सृष्टि का कारण रागतत्व, को ही स्वीकारते हैं। यह रागतत्व, आत्मरति से लेकर विश्व-रचना तक कार्यरत है। समय की प्रतिक्रिया जिस प्रकार प्रकृति में दृश्य बनकर उभरती है, उसी प्रकार मनुष्य की रागात्मक चेतना में भाव बनकर। प्रसिद्ध संस्कृत-नाटककार भवभूति ने माना है कि एक ही करुण रस, कारण भेद से नानारूप धारण करता है। परन्तु हमारे विचार में, भाव-वैचित्र्य रति की विभिन्न प्रतिक्रियाओं से ही संभव है। क्योंकि करुण स्वयं रति के आलम्बन के अभाव की रागात्मक प्रतिक्रिया है। इसमें दो मत नहीं कि शृंगार के क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त करने का श्रेय सूर को ही है। परन्तु यह श्रेय कवि के मूल्यांकन में, श्रेय से अधिक, अभिशाप सिद्ध हुआ है, क्योंकि केवल इसीलिये कुछ आलोचकों ने सूर को असामाजिक और लोक-चिन्ता शून्य घोषित कर दिया है। मेरे विचार में यह **सूर सूर तुलसी शशि** वाली तुलनात्मक आलोचना का परिणाम था। तुलनात्मक आलोचना की परम्परा, इससे भी प्राचीन मानी जा सकती है, फिर भी हिन्दी-साहित्य में, इसका सीमांकन उक्त अवतरण से मानना चाहिये।

सूर यद्यपि शृंगार के नये कवि नहीं हैं, फिर भी उनका शृंगार नया है। सूर द्वारा स्वीकृत कृष्ण का जीवन शृंगार का ही विषय बन सकता था। परन्तु सूर ने उक्त सीमा स्वीकार करके भी यह अच्छी तरह बता दिया है कि शृंगार की प्रेरणाएँ मनुष्य की राग-चेतना को बहुत दूर तक प्रभावित करती है। सूर का शृंगार-वर्णन इस बात का स्वयं साक्ष्य है, उनका हृदय लोक-शृंगार से उद्वेलित है, जबकि उनके आलम्बन कृष्ण का अप्राकृत तत्व से। प्रकृत और अप्रकृत के इसी रागात्मक सामंजस्य में ही सूर की काव्य साधना की उपलब्धि मानी जा सकती है। दूसरे शब्दों में वह जिस प्रेम की अभिव्यंजना करते हैं उसका विकास कवि लोक वातावरण में दिखाता है फिर बाल और यौवन की भूमिकाएँ पारकर, यह प्रेम स्थूल से सूक्ष्म होने लगता है। कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का उद्देश्य प्रेम का उदात्तीकरण ही है। यदि हम कुछ अन्तर्वर्ती

घटनाओं और लीलाओं को छोड़ दें तो सूरसागर में शृंगारपरक खंडकाव्य की रूपरेखा प्रस्तुत हो जाती है। इसमें कवि की प्रतिपाद्य वस्तु है प्रेम का संयोग, जिसका सम्पादन करता है, वह विभिन्न लीलाओं से। इसमें अधिकांश लीलाएँ कवि की उत्पाद्य लीलाएँ हैं। इनका प्रारम्भ होता है गोचारण से और समापन, वसंतलीला में होली प्रसंग से। इनमें प्रमुख है—चीरहरण-लीला, रास-लीला, पनघट-लीला, दधि-लीला, खंडिता-प्रकरण की राधा की व्यक्तिगत तीन मान-लीलाएँ और वसंतलीला और उसके अन्तर्गत कई उप लीलाएँ। इन लीलाओं के नियोजन में, कवि का मुख्य उद्देश्य है राधा-कृष्ण के प्रेम की स्वाभाविक विकास-रेखा दिखाना और साथ ही इनके आध्यात्मिक अभिप्रायों को भी संकेतित करते चलना।

सबसे पहले हम गोचारण लीलाओं को लें। हम देखते है कि गोचारण-लीला प्रारम्भ होने के पूर्व ही, राधा-कृष्ण में प्रेम आँखमिचौनी करने लगता है।

गोपियां राधा के साथ हैं। गोचारण-लीला, इसी झिलमिल प्रेम के विकास के लिये प्रकृति का उन्मुक्त वातावरण प्रस्तुत कर देती है। अब दोनों के निकट सहयोग के अधिक अवसर निःसंकोचभाव से उपलब्ध हैं। प्रेमवृत्ति प्रिय के साथ उसकी वस्तुओं को भी अपने परिवेश में ले लेती है। गोपियों को विशेष चिन्ता उन गायों की है जो वृषभानु ने उन्हें सौंपी हैं। चरागाह में वे सबसे आगे है। इधर-उधर बिखरी हुई, उन्हें घेर सकना, गोपियों के वश की बात नहीं। उन्हें शक है कि जरूर कन्हैया ने उन्हें सिखा-पढ़ा दिया है और गोपियां सिखाने वाले से ही अनुरोध करती हैं कि तुम पेड़ पर चढ़कर गायों को क्यों नहीं बुला लेते प्रभु चढ़ि काहे ने टेरौ कन्हैया।

गोचारण में प्रेम की प्रेषणीयता का काम करती है "मुरलिया"। मुरली की अनुगूंज और श्याम-दर्शन की गोपियों पर सामान्य प्रतिक्रिया है 'सुख', और विशेष प्रतिक्रिया है 'प्रेम'। **सूरदास मुख निरखत ही सुख, गोपी प्रेम बढ़ावत**। प्रकृति की उन्मुक्त पृष्ठभूमि में वैसे वंशी के स्वर, चराचर को प्रभावित करते हैं, परन्तु गोपियों की प्रेम-चेतना तो जैसे हिलोरें लेने लगती है। उनकी आंखों से अनुराग चू पड़ता है। उनमें पास जाने की आकुलता बढ़ने लगती है।

मुनि विटप चंचल गात
अति निकट कौं अकुलात
आकुलित पुलकित गात
अनुराग नैन चुचात

मुरलिया उनमें प्रेम तत्व का प्रसार ही नहीं करती, उसे दृढ़ भी मानती है। और गोपियां अपनी प्रेमानुभूति में नित्य नये आकर्षण से भर उठती हैं। कृष्ण उनके लिये वही सब है जो प्रेम के हर नये सम्पर्श में संभव है। गोपियाँ देख रही हैं कि उनके सम्मुख है, आनन्दकंद और सौन्दर्य की अलेख्य राशि। सौन्दर्य का लहराता सागर सामने है। वे उसमें तिरना चाहती है, परन्तु थक कर रह जाती है।

देख समीप सकल गोपीजन रहि बिचारि बिचारि

तदपि सूर तरि सकीं न रही प्रेम पचि हारि

यह प्रेम सौन्दर्यमूलक है और सौन्दर्य है, रूप का उपहार। इस प्रेम की पहली पहल दो प्रतिक्रियाएँ हैं आकर्पण और आत्मविस्मृति। आकर्पण लालच उत्पन्न करता है, और आत्मविस्मृति कोमलता जगाती है। रूप के चांद को देखकर गोपियों की आंखें कुमुदिनी सी खिल उठती हैं, "गोपि तजि लाज संग श्याम रंग भूली, पूरन मुख चन्द देखि नैन कोइ फूली" प्रेम की इसी विकासशील स्थिति में मुरली प्रसंग आ जाता है, जिसकी चर्चा स्वतंत्र शीर्पक में है। यह प्रसंग समाप्त होते ही हम पाते हैं कि गोपियां समग्र भाव से कृष्ण पर मुग्ध हैं। कभी उनकी मुखछवि पर और कभी अलक जाल पर। कृष्ण की इस प्रेम–लीला का विकास नंद और यशोदा की स्नेह भरी देख रेख में होता है।

देखति जननी जसौदा यह सुख
बार बार विहंसति मुख मौरी
सूरदास प्रभु हंसि हंसि खेलत
ब्रजबनिता डारत तृन तोरी

श्याम कभी गोपियों का मन अँजोर लेते है और कभी चित्त चुरा लेते हैं। एक दिन यह होता है कि कृष्ण राधा को देखते है और पूछ बैठते हैं परिचय

औचक ही देखी तहं राधा नैन विशाल भाल दिये रौरी
नील वसन फरिया कटि पहरे वैनी पीठी उलति झक झौरी
संग लकिनी चलि इत आवत दिन थोरी अति छवि तन गोरी
सूर श्याम देखत ही रीझै नैन नैन मिलि परी ठगौरी : ६७२ :

परिचय की पृष्ठभूमि में दोनों में प्रेम का विनिमय हो जाता है। और कृष्ण उससे सांझ-सकारे आने का अनुरोध करते हैं।

खेलन कबहुँ हमारै आवहु, नंद सदन ब्रज गांऊं
द्वारे आइ टैरि मोहि लीजै, कान्ह हमारी नाऊं
जो कहिये घर दूरी तुम्हारौ, बोलत सुनिये टैरि
तुमहिं सोंह वृपभानु बबा की, प्रातः समझ इक फैरि

राधा के साथ नित्य क्रीड़ा का जो क्रम चलता है उसमें कभी आंख–मिचौनी, कभी गोदोहन का निमंत्रण कभी गाय गिननै "खरक" तक जाना, प्रमुख है। देर होने पर आशंकाओं में राधा का घर लौटना। माँ यशोदा को, देर का कारण समझते देर नहीं लगती। नागरी राधा का मन उलझन में है। विरह जन्य कृशता शरीर में घर कर रही है। परन्तु राधा का मन घर से उचाट है। चित्त की प्रेमजन्य चंचलता में उसका खाना–पीना तक छूट गया है। वह दोहनी लेकर खरिक जाना चाहती है, क्योंकि कन्हैया उसे आने को कहकर गये हैं, परन्तु नंद स्वयं कन्हैया को ले जाते हैं। नंद दोनों को स्वतंत्र छोड़ देते है खेलने के लिये। खेल खेल में राधा समझती है कि कृष्ण उसके अधीन हैं। वह अनुरोध करती है।

बांह तुम्हारी न छांड़ों महर खीमि हैं हमकौ

इसके विपरीत कृष्ण बांह छुड़ाना चाहते हैं—

मेरी बांह छोड़ दे राधा करत उपर पट बातें

कृष्ण में गोपनभाव बढ़ रहा है। वह राधा की नीवि पकड़ लेते हैं। इतने में यशोदा आती हैं, कृष्ण हटकर गेंद ढूंढने का बहाना बना देते हैं। राधा मुसका कर इंकार कर देती है कि गेंद उसके पास नहीं। प्रथम क्रीड़ाओं की इसी संमोहक भूमिका पर, कृष्ण वृंदावन चलने का प्रस्ताव रखते हैं। एकान्त में दोनों की प्रेम-क्रीड़ाएँ होती हैं। कृष्ण का प्रस्ताव है— **नैकहुं मंहि करौं अन्तर निगम भेद न पाई**

तुम परस तन ताप मेंटौं काम द्वंद गंवाई

इसके बाद ही राधा की मुसकान और अचानक आई मेघमाला के बीच ऐसा कुछ अघटित घट जाता है जिसका कवि संकेत भर करता है, कि **श्याम गुप्तलीला सूर क्यों कहै गाई।**

बदरिया जैसी आती है, वैसी ही चली जाती है, इस आतुर प्रेम-क्रीड़ा में सब कुछ उलट-पुलट हो गया है—

अंकम दै राधा घर पठई बादर जहं तहं दिस उड़ाई

प्यारी की सारी आपुन लै पीताम्बर राधा उर लाई

अवश्य ही वह एक अप्राकृत लीला है। बदरिया का उमड़ आना और बिखर जाना, कृष्ण की माया थी। ब्रह्म वैवर्तपुराण में ऐसी आप्रकृत लीलाएँ बहुत हैं। सूर ने इसका उल्लेख, राधा-कृष्ण की विकसित हो रही, प्रेमधारा के बीच किया है। इस घटना की मानवी प्रतिक्रिया यही दीख पड़ती है कि राधा अब बहाना बनाने की कला में पारंगत हो चुकी है। यशोदा के पूछने पर श्याम भी भीड़ का बहाना बना देते है— **मैं गोधन ले गयौ जमुना तट जहाँ हुती पनिहारी**

भोर भई सुरभि बिडरी मुरली अली संमारी

हौं ले भज्यो और काहु कि सौ ले गई हमारी

उधर अपनी मां की डांट पर राधा कहती है 'मां क्या करूँ रास्ते में मुझे काले नाग ने काट खाया, यदि नन्द को डोठा मंत्र फूंककर मेरे प्राण न बचाता तो मेरा जीवित लौटना कठिन था।' सूर का कवि अप्राकृतवाद से प्रायः दूर है। प्राकृत और यथार्थ को भूमि पर आने के लिये उसने उक्त अप्राकृत घटना का उल्लेख किया है।

अब राधा-कृष्ण का एक दूसरे के घर आना जाना, वेरोकटोक है। राधा कृष्ण के घर पहुँचती है, वह भी एक मीठी आवाज पर बाहर आ जाते हैं। यशोदा से झूठमूठ कहते हैं कि कल मैं चकडोर भूल आया था यह उसी को देने आई है, यह इतनी 'लजौर' है कि घर ही नहीं आ रही थी, मैंने शपथ देकर इसे बुलाया है :

आवत यहाँ तोहि सकुचति है, मैं दै सौंह बुलाईहौं

मां राधा के रूप पर इतनी मुग्ध हैं कि वह सूर्यभगवान से दोनों की मंगल जोड़ी की कामना करती हैं। यशोदा राधा की चोटी पट्टी कर रही हैं, साथ ही उसके

मां-बाप की प्रशंसा। फिर तिल, चांवरी और मेवा देकर, खेलने को कहती हैं। अब उन्हें कोई अन्तर बाधा नहीं है। दोनों की प्रेम-लीला को देखकर, नन्द दम्पति प्रसन्न हैं। कवि का कहना है कि इस प्रेमभाव को वही देख सकता है, जो मन में इसको अवधारण कर सके। राधा घर पहुँचकर मां को सब कुछ बता देती है, वह यह भी बताती है कि यशोदा तुम्हारा नाम लेकर गाली दे रही थी। वृषभानु दम्पति समझ लेते हैं और बात-बात में बात बरसाने में फैल जाती है। राधा को सबकी हँसी का पात्र बनना पड़ता है। **फेरि फेरि बूझत राधा सौं सुनत हँसत सब नारी।** दोनों का दोनों ओर से निःशंक आना-जाना, लापरवाही पर यशोदा का कृष्ण को समझाना, राधा कृष्ण का 'दोहनी' लेकर खड़क जाना, अब नित्य का क्रम बन जाता है। कभी श्याम दुहते हैं, और कभी राधा। कभी ऐसा भी होता है कि राधा आत्मविस्मृत हो उठती है और हालत यह होती है कि वह खाली माठ बिलोने लगती है। महरी यशोदा उलाहना देती हैं —

अपने घर यौंही मथै करि प्रकट दिखायौ
कै मेरे घर आयके तैं सब बिसरायौ

इस प्रकार आत्मविस्मृतिजन्य जड़ता निरन्तर बढ़ती हुई प्रीति को उजागर कर देती है। अब संकेतिक आह्वान स्पष्ट अनुरोध बनने लगते हैं। घर के आंगन की क्रीड़ा जो धीरे-धीरे 'खरक' तक पहुँची थी, वह अब वृन्दावन तक, अपने क्षेत्र का विस्तार कर लेती है। कन्हैया गाय दुहते है और सुनते हैं गोपियों के उलाहने—

तुम पै कौन दुहावै गैया
इत चितवत उत धार चलावत यहै सिखायौ मैया
गुप्त प्रीति तासौं कर मोहन जो हौ तेरी दैया : ७३४ :

गोपियाँ कृष्ण से लड़ने का कोई-न-कोई बहाना ढूंढ़ लेती हैं—

करु नियारी हरि अपनी गैया
नाहिन बसति लाल कछु तुम्हे तुमसे ग्वाल न इक ठैया
नाहि अधीन तेरे बाबा का नहि तुम हमरे नाथ गुसैंया

सचमुच ये उलाहने प्रीति की वे किरणें हैं, जो प्रेम के अरुणोदय में आत्मीयता का आलोक फैलाती हैं। कृष्ण दुहते हैं गाय, परन्तु फूट पड़ती है प्रेम की धारा राधा पर, सहेलियां टूट पड़ती हैं कि तुमने हरि से गाय दुहने को क्यों कहा :—

और अहीर सब कहां तुम्हारे हरि सौं धेनु दुहाई

राधा मूर्च्छित है और यही सूर का कवि बताता है कि प्रेमजन्य मूर्छा दूसरी मूर्छाओं की तुलना में पूर्ण और दुर्भेद्य है। कृष्ण जैसा अवतारी तांत्रिक ही इस मूर्च्छा को भंग कर सकता है। कृष्ण ऐसा ही करते हैं। अब होती है चीर-हरण-लीला। यह वस्तुतः गोचारण-लीला की पूरक लीला है, यही क्यों हर लीला अपने से पहली लीला की तुलना में एक विकासशील स्थिति है। चीर-हरण में उस आवरण को हटना पड़ता

है, जो प्रेम में अनिवार्य रूप से बाधक है। इतना ही नहीं इसमें प्रेम की सीमाओं का विस्तार है। और इसीलिये हम इसे कृष्ण-प्राप्ति की दिशा में एक प्रयास कह सकते हैं। गोचारण में सामाजिक स्थितियों का अनुकूलीकरण है, और चीर-हरण में मानसिक स्थितियों का जैसे जैसे मिलैं श्याम सुन्दर वर सौई कीजै नहि आन :७७५:

कृष्ण-मिलन की आतुरता के साथ उनमें उपालम्भ की प्रवृत्ति भी बढ़ रही है। वे कहती हैं— कहा करत जो नन्द महर सुत हमसौं करत ढिठाई

लरिकाई तबहि लौं नीको चारि बरस के पाँच

अभेद में भेद देखने में सूर का कवि जितना निपुण है उतना शायद ही कोई दूसरा कवि हो, क्योंकि वह जानता है यह लोक-स्वभाव है। गोपियाँ समझती हैं कि कृष्ण की ढिठाई पर नंद बाबा ध्यान देंगे नहीं। यशोदा से कहना ठीक होगा! नर नर का पक्ष लेता है और नारी नारी का। आधुनिक मनोविज्ञान इससे उल्टा है। प्रेम से वशीभूत होकर वे चल देती हैं—

प्रेम विवश सब ग्वाल भाई

उरहन देन चली जसुमति कौं मनमोहन के रूप रई : ७७१:.

उलाहने में जो कुछ वह कहती है, उसमें प्रेम-क्रीड़ा के समस्त संयोग चित्र उद्घाटित हो जाते हैं। यदि उपालम्भ से कवि काम न ले तो यही चित्र संयोग-शृंगार की खुली प्रदर्शनी बन जाय। यशोदा, अपने बेटे का ही पक्ष लेती हैं। वह समझती हैं कि गोपियां इसी बहाने कृष्ण पर पूरा अधिकार करना चाहती है परन्तु यह कैसे हो सकता है? क्या आसमान के तारे तोड़े जा सकते है?

बिना भीति तुम चित्र लिखत हो को गगन तरैया मांगे कैसे पावहु

आवत ही ये तुम लख लीन्हीं कहि मोहि कहा सुनावहु

चोरी रही, छिनरो अब भयौ, जान्यौ ज्ञान तुम्हारो

औरे गोप सुतन नहिं देख्यौ सूर श्याम है बारौ

इतने मे मोर मुकुट पहने कृष्ण आ जाते है, और गोपियां नौ दो ग्यारह होती है। इस प्रकार हम पाते है कि यशोदा का आँचल, हर स्थिति में कृष्ण के ऊपर बना रहता है। चीरहरण लीला का लौकिक उद्देश्य है गोपियों का संकोच दूर करना और आध्यात्मिक उद्देश्य है अपने विरद की लाज रखना।

दोनों चारण-लीलाओ मे उद्देश्यो की यही स्थिति है। काव्य की दृष्टि से चीर-हरण लीला, रासलीला की पहली सकल्पनात्मक भूमिका है। गोपियों को रासलीला का आश्वासन भी इसी मे मिलता है इसके बाद आने वाली यज्ञ पत्नीलीला, कृष्ण-भक्ति से संबन्धित एक आख्यान है, इसी प्रकार गोवर्धन-लीला उनके शौर्य की व्यंजना करने के लिए है। रासलीला कृष्ण की समष्टिगत प्रेमलीला की प्रतीक है। चाँदनी से नहाई शरद की एक रात मे बाँसुरी के स्वर गूँज उठते है। गोपियों पर इसकी तीखी प्रतिक्रिया होती है। वे दौड़कर श्याम के समीप जा पहुँचती है। मर्यादा का यह अतिक्रमण श्याम पसंद नही करते.—

धिक सो नारी पुरुष जो त्यागे
धिक सो, पति जो त्यागे जोई : १०१५ :

श्याम इस आर्य विश्वास को भी दुहराते हैं:—

सुरपति सेवा बिना क्यों तरोगी संसार : १०९६ :

लेकिन गोपियाँ इस कथन पर कान नही देतीं । वे दे भी नहीं सकतीं क्योंकि अपनी कुलीनता बड़प्पन और भाग्य, सब कुछ वे श्याम को कभी की सौंप चुकी हैं । और तब श्याम के मुँह से स्वीकृति के ये शब्द निकलते हैं:—

मोको मर्जी एक चित, ह्वै के विहरि लोक कुल कानि
सुरपति नेह तोरि तिनुका सो, मोही निजकर जान : १०३३: :

रास सूर के अनुसार श्याम और राधा का गंधर्व परिणय है, जब कि व्यास इसे रास कहते हैं—

जाकों व्यास बरनत रास !
है गंधर्व विवाह चित है सुनो विविध विलास
कियो प्रथमहि कुलारिनि व्रत धरि हृदय विश्वास
नंद सुत पति देहु देवी पूजि मन की आस
दियो तब परसाद सबकों भयो सबनि हुलास
मिहिर तनया पुलिन तरवर बिमल जल उच्छवास
धरी लगन जु सरद निशि को सोधिकर गुरु रास
मोर मुकुट सु मौर मानौ करक कंगन सास : १०७१ :

सूर ने राधा-कृष्ण के प्रणय को सामाजिक रूप ही नही दिया, उसे सामाजिक संस्कारों के साथ सम्पन्न भी बताया है । विवाह की मध्ययुगीन सभी विधियाँ पूरी की जाती हैं । यह गांठ प्रेम की गांठ है, जिसका छूटना कठिन ही नहीं असंभव है, वह प्रेम की डोर से बंधी हुई है । राधा–कृष्ण के गधर्व विवाह के दो कारण जान पड़ते हैं । श्रीभद्भागवत में कृष्ण गोपीलीला है, परन्तु राधा नही है । सूर सागर में राधा तत्व के प्रवेश और उसकी सामाजिक स्वीकृति के लिए गंधर्व विवाह ही माध्यम बन सकता था । ऐतिहासिक कृष्ण की कई पत्नियाँ थी वे युगमर्यादा से इतनी जकड़ी हुई है कि 'रासलीला की उन्मुक्त लीला में भाग नही ले सकती । सूर को ऐसी नारी चाहिए थी जो कृष्ण की आध्यात्मिक सहयोगिनी बन सके । ब्रह्म वैवर्त में दार्शनिक आधार पर यद्यपि राधा की अवतारणा है, परन्तु उसमे अतिप्राकृत पन इतना अधिक है कि उसे कृष्ण की लोक-लीलाओं के साथ सम्प्रक्त नही दिखाया जा सकता था । गंधर्व विवाह की कल्पना का रहस्य यही है । सूर राधा के प्रवेश के साथ श्रीमद्भागवत की लीलाओं का चित्रण प्रारम्भ कर देते थे । श्याम-श्यामा की उन्मुक्त क्रीड़ाएँ हो रही हैं । कृष्ण की सहज सुलभ समीपता गोपियों में गर्व का हल्का संचार करती है । कृष्ण अंतर्धान होते हैं । राधा उनके साथ हैं । गोपियाँ अकुला उठती है, उत्पीड़ित है—

गरब गयो ब्रजनारी को तबहिं हरि जाना
राधा प्यारी संग लिए भये अंतधाना

गोपति हरि देख्यो नहीं तव सव अकुलाई
चकि होई पूछन लागीं कहँ गये कन्हाई

वे द्रुम वेलियाँ खोजती फिरती हैं। उनमें से तब एक कहती है :—

अहो कान्ह यह बात तिहारी सुख ही में भये न्यारे
इक संग एक सरीर रहत हैं तिन तजि कहाँ सिधारे

अभी तक यह होता आया है कि लोग दुःख में साथ छोड़ते हैं और गोपियों ने भी दुःख में साथ छोड़ते तो देखा है, परन्तु सुख में साथ छोड़ते किसी को नहीं देखा। कृष्ण का सुख में इस प्रकार भाग जाना, उनकी समझ के परे है, जो सुख में साथ नहीं देता वह दुःख में क्या साथ देगा ? उन्हें अपनी भूल मालूम होती है। यह देह का अभिभाव था कि उन्हें सव कुछ हार जाना पड़ा। जिस गोपी के साथ श्याम अंतर्धान हुए थे वह भी गर्व में भर कर सोचती है कि श्याम पर उसका एकाधिकार है। श्याम को जानते यह देर नहीं लगती वह उसे छोड़ कर चल देते हैं। कृष्ण द्रुमलता की ओट में खड़े हैं गोपी बेहोश पड़ी है, सखियाँ ढूंढते-ढूंढते वहाँ आ पहुँचती हैं। वे देखकर चकित हैं कि राधा ही है। इस प्रकार भागवत की विशेष गोपी को सूर राधा से मिला देते हैं— जो देखे द्रुम के तरे मुरझी सुकुमारी
चकित भई सव सुन्दरी यह तो राधा री

राधा अपनी वेदना व्यक्त करती हुई कहती हैं :—

"केहि मारग में जाऊँ सखीरी सारंग मोहि विसरयो
न जानो कित ह्वै गये मोहन जाति न जानि परयो
हृदय मांझ प्रिय घर करौ नैननि बैठक देऊं
सूरदास प्रभु संग मिलीं वहुरि रासरस लेऊं

अन्तिम पंक्तियों में राधा निर्गुनियों की भाषा को मात दे रही है। आखिर अहंकार का प्रेम से इतना विरोध क्यों है ? अहंकार अखण्ड को खण्डित करके देखता है और प्रेम खण्डित को अखण्ड रूप में स्वीकार करता है। राधा को समझने के लिए गोपियाँ कृष्ण-चरित का अभिनय करती हैं और इस व्याज से सूर का कवि कृष्ण की पौराणिक और व्रजलीलाओं का चित्रण कर देता है। कृष्ण प्रगट होते हैं। फिर वही रासलीला। सूर का कवि उसे देखकर इतना तन्मय हो उठा है कि क्रीड़ा का नित्य आनन्द लेने के लिए वहीं कुटिया बनाकर रहना चाहता है। कवि ब्रह्म के संवाद के माध्यम से हमें बताता है कि गोपियाँ ऋचाओं की अवतार हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि गोपियों के उद्‌गारों से जो ध्वनित होता है, वही ऋचाओं का प्रतिपाद्य है। कृष्ण स्तुतियों से स्पष्ट स्वर में कहते हैं :—

"मथुरा मण्डल भरत खण्ड निजधाम हमारो
धरी तहाँ मैं गोप वेश सो पंथ निहारो"

लीलाओं को आर्ष-समर्थन देकर सूर का कवि फिर रासलीला पर आ जाता है। रासलीला हो रही है। एक सुकुमारी कृष्ण के कंधे पर चढ़ना चाहती है। परन्तु कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं। इस प्रकार कवि, भाव से अभाव और योग्य से अयोग्य

को इंगित करता चलता है। गोपियों और राधा को, भाव में अभाव की शंका बराबर बनी रहती है। कुछ पौराणिक कार्य संपादित कर कवि वृन्दावन विहार की योजना करता है। इसमें राधा के साथ एकांत लीलाएँ है। कभी श्याम रिझाते हैं और कभी ग्वालबाल। वंशी का स्वर सुनकर उनका देहिकमान गल जाता है। वे प्रेम के झूले में झूलने लगती हैं। फिर अचानक मुरली के प्रति जाने किस कोने से गोपियों के मन में ईर्प्या जाग उठती है, वे देख नहीं सकतीं कि मुरली श्याम के अधरों का रस लूटें।

कहाँ रही कहँ ते आई कौने याहि बुलाई

गोपियाँ "गीत समुद्र की तरी" मुरलिया पर बरस पड़ती है। और यहीं मुरली प्रसंग (इसका स्वतंत्र शीर्षक से विवेचन है) व्यवधान बनता है लीलाओं के लिए। दूसरे शब्दों में, इसमें उनका मानसिक पक्ष उद्घाटित है। यशोदा की प्रतिक्रिया के बाद फिर लीलायें प्रारम्भ होती हैं। इसे 'पनघट' शीर्षक दिया गया है। यह मुख्य रूप से गोपियों के सामूहिक विनोद के लिये है ? श्याम अपनी नटखट वृति से हर युवती के हृदय की थाह लेते हैं जबकि युवतियाँ भी उनकी गति की थाह नहीं पातीं—

"काहू की गगरी ढरकावैं काहू की इंडुरी फरकावैं
काहू की गगरी धर फोरे काहू के चितवत चित चोरे
या विधि सबकें मनहि मनावै सूर श्याम गति कोई न पावै" (१३६९)

और तब उनके सम्मुख होती है, केशर की पत्र-रचना, खिली हुई सुमनमालायें, नन्हीं-नन्हीं बूंदों की बौछार, सौंदर्य की मुस्कराती हुई छटा। फिर भी सौंदर्य के पूर्ण बोध में वे असमर्थ की असमर्थ है। एक गोपी में नटखट वृति जागती है, वह कन्हैया की लकुटी छिपा देती है। वह बार-बार मागते है, वह साफ मुकर जाती है। वह अपनी विजय में फूली नहीं समाती। पर यह क्या मुरली फिर जहाँ की तहाँ कृष्ण के हाथ में है। एक दूसरी गोपी के लिए गगरी भरना मुश्किल। वह भरती है श्याम ढुलका देते है। किसी तरह वह गगरी भर लेती है, गगरी भर जाती है। परन्तु स्वयं रीति हो उठती है। एक क्षण पहले की ही बात है गगरी खाली थी और गोपी भरी हुई। अब भरी हुई गगरी उसके सिर पर है, और गोपी अपने को रीता अनुभव कर रही है। लगता है उसे कि कन्हैया सब ओर है, यदि कबीर के शब्दों मे कहा जाय तो कहना होगा "जित देखों तित तू"। यदि कहीं नहीं है तो एक उसके हृदय में:—

जहाँ भरि दृष्टि देखौ तहाँ तहाँ कन्हइ
उतहिं तें इक सखी आई कहत कहा भुलाई
सूर अबहिं हँसति आई चली कहा गँवाई

पनघट लीला में हम श्याम की संमोहक शक्ति की व्यापक प्रतिक्रियायें पाते हैं इनमें निर्गुण प्रेम की प्रतिक्रियायें भी है "जित देखों तित तू" वाली निर्गुण-साधना की सर्वोच्च स्थिति को गोपियां पनघट लीला में ही पा लेती है, व्यक्तिस्तर पर और सामूहिक स्तर पर भी। इस प्रकार मानवमन को लुभाने वाले सभी अच्छे तत्व सूर ने अपनी लीलाओं में ले लिए है। आत्म-विस्मृति, भय, आशंका, विरहोत्कंठा, बाट बाट भूल जाना, प्रिय के विराट अस्तित्व में स्वयं की सत्ता का समर्पण कर देना गोपियों

के लिए बड़ी बात नहीं। इससे सिद्ध है कि सूर ने निर्गुण साधना को निषेधात्मक दृष्टि-कोण से ही नहीं देखा, अपितु स्वीकारात्मक दृष्टिकोण से भी देखा है। किसी को 'ठगनिया' विद्या सीखनी हो तो उसे 'पनघट लीला' में सम्मिलित होना चाहिए। इसका पहला पाठ है :—

ठग के लच्छन हमसों सुनिये, मृदु मुसकनि चित चौरत
बैन सैन दे चलत सूर प्रभु तन त्रिभंग करि मोरत

गोपियाँ शिकायत लेकर पहुँचती हैं यशोदा के पास, परन्तु श्याम कब चूकने वाले थे। वह माँ से कहते हैं :—

उनके चरित कहा कोऊ जाने उनहीं कही तू मानति
कदम तीरे तें मोहि बुलायो गढि गढि बातें जानति
मटकत गिरी गगरी सिर तें अब ऐसी बुधि ठानति (१४:२८)

इस पर माँ क्या कहे। वह किसे नही जानती। पनघट पर राधा भी श्याम को रिझाने में किसी से पीछे नहीं है —

उमेठि उढ़नियाँ चलत दिखावत हहि मिस निवर्टाहि आवै

पनघट लीला की सामूहिक उपलब्धि है 'एकात्मकभाव' :—

विनु गोपाल और नहिं जानौं सुनि मो सों सजनी

दानलीला रासलीला का एक अश है और सूर के अनुसार लीला का अर्थ है 'आराध्य के प्रति तन्मयता' यह अभिन्न आत्मीयता, हर लीला में साध्यमान है। इस आत्मीयता की क्रयशक्ति भाववश्यता मे नीहित है। गोपियाँ दही बेचती है। कृष्ण अपना अंश माँगते है। वे कहती है :—

काल्हिंहि घर घर डोलत खाते दही चुराई
रात कछु सपनो भयों प्रातः भई ठकुराई

इस प्रसंग में गोपियाँ कृष्ण को कंस की सार्वभौमशक्ति की सूचना देती हैं। दधि-दान का अभिप्राय है, गोपियों का कृष्ण के लिए सम्पूर्ण दैहिक समर्पण और उसके बाद उपलब्ध आत्मतृप्ति। राधा से वह विशेष दधिदान की अपेक्षा रखते हैं :—

राधा सौं माखन हरि मांगत
औरना की मटकी को खायो तुमरौ कैसो लागत (१५९९)

दधिलीला मे कृष्ण का उद्देश्य भी स्पप्ट किया गया है :—

भाव अधीन रहौं सबही मैं और न काहू नैकु डरौं

और वह यह रहस्य भी बता देते है : —

तुमतें दूरि होत नहिं कबहुं तुम राख्यौ मोहि घेरी
तुम कारण में बैकुंठ तजत हौं जन्म लेत व्रज आहि
वृंदावन राधा गोपी संग यह नहिं विसरयौ जाहि

उधर कृष्ण भावी योजना बनाते है। इधर गोपियों का घर में मन नहीं है। राधा को प्रताड़ना मिलती है कि वह जरा भी नहीं डरती। सारे व्रज में राजा कान्ह की दुहाई दी जा रही है और उसके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। इधर गोपियों

की शिकायत है कि राधा उससे बात छिपाना सीख गई है। ग्रीष्म विहार लीला में सब कुछ प्रकट रहता है। सचमुच राधा भाग्यशाली है, क्योंकि कृष्ण राधा के वश में हैं, वे एक प्राण दो देह हैं। राधा भी कृष्ण को पहचान सकी। इन लीलाओं में राधा का सौन्दर्य उभर कर हमारे सामने आता है। राधा-कृष्ण की एकांत लीलाओं में राधा के नेत्र महत्वपूर्ण भाग अदा करते है। मन के अपहरण काण्ड में भी नेत्रों का ही बड़ा भारी हाथ है। सूर एक ही अर्थवाचक शब्दों से दो अर्थ-ध्वनियाँ निकाल लेते हैं। नेत्र पुल्लिग है, इसलिए ये स्वयं 'घर का भेदी लंका ढावे' की उक्ति चरितार्थ करते हैं। परन्तु आँखें स्त्रीलिंग हैं इसलिये उन्हें श्याम का शिकार होना पड़ता है अंखियनि श्याम अपनी करी। राधा का यह सौंदर्य चित्रण, राधा की मानलीलाओं की पृष्ठभूमि का काम करता है। ये लीलाएँ दम्पति-विहार के तीन चरणों में सम्पन्न होती हैं। राधा में मान की प्रवृति निरन्तर बढ़ रही है। आशंका, अविश्वास और आक्रोश, उसके जाने-पहचाने लक्षण हैं। श्याम समझाते हैं कि काम को शंका की कसौटी पर कसना ठीक नहीं। परन्तु राधा वही करती है। दूती दोनों की दूरी पटाना चाहती है। वह समझ ही नहीं पाती कि आखिर इस मान का कारण क्या है ; किसी प्रकार वह राधा को प्रसाधन करने के लिए राजी कर लेती है। वह उसे कुंज कुटीर में ले जाकर मिलन भी करवा देती है। 'खंडिता' प्रकरण में राधा का मान विकट रूप धारण कर लेता है। इसमें कृष्ण को बहु नायक के रूप में बताया जाता है—

वहु नायक हो बिलसत आयु जाकौ सिव पावत नहि जापु
ताको ब्रज नारी पति जानै कोऊ आदरें कोऊ अपमाने
काहुँ सो कहि आँवन साँझ रहित और नागरी मांझि
कबहुँ रेनि सब संग बिहात सुनहु सूर नंद तात । २४७५ ।

कृष्ण की यह वायदा खिलाफी, प्रारम्भ होती है ललिता से। बेचारी का सारा समय अकुल प्रतीक्षा और प्रसाधन की आतुरता में बीतता है। आखिर जब आते हैं तो संभोग के विपरीत प्रतीकों के साथ। ललिता क्रुद्ध होना चाहती है, होती भी है परन्तु श्याम की एक मुस्कान पर निछावर हो जाती है। चन्द्रावली से उनकी भेंट एक सकरी गली में होती है। उसके उफान को श्याम आश्वासन देकर ठंडा कर देते हैं। अब वह सुखमा के घर हैं। कभी उन्हें यमुनातट पर देखा जा सकता है और कभी किसी के घर में। प्रिय की यही मधुकरी वृति राधा के मान का कारण बनती है। कवि का अर्थपूर्ण संकेत है। सुनहु सूर जोई मन भावै सोई सोई रंग उपजावत है ठीक है परन्तु एकांतनिष्ठा इसे कैसे सहन कर सकती है। राधा एक बार यह सहन भी करले कि उसका प्रिय दूसरी नायिकाओं के साथ रमण करता है, पर यह वह कैसे सहन करे कि उसका प्रिय रमण कालीन विपरीत चिन्हों का खुले आम प्रदर्शन करे। यह देख कर वह सचमुच लाजों मर जाती है—

आपुन को भई बड़ी प्रतिष्ठा जावक माल लगाए
याको अरथ नहिं कोउ जानत मारत सबनि लजाएँ

कृष्ण शपथ खाते हैं और खा कर भी फिर ढाक के वही तीन पात। राधा मान पर मान कर बैठती है— अनतहि बसति अनतहि डोलत आवत किरनि प्रकास

वह उठकर अपने घर चली जाती है। वह मान से पीड़ित है कि वह मिलन कैसे कराए ? वह राधा को समझाती है। वह प्रिय की ओर से कई महत्वपूर्ण आश्वासन देती है और उसकी युक्ति काम कर गई है। राधा का मान टूटता है। दूती कृष्ण को निकुंज मे पहुँचने का संकेत देती है। कवि कहता है कि वात्सल्य में कुछ ऐसा है कि रुठने मे ही प्रेम को अधिक आदर मिलता है। मान का शायद यह मनोवैज्ञानिक कारण है।   इतनौ कहां गांठ को लागत जो बतनि सुख पाइये
सठेंहि आदर देति सयाने चहै सूर जस लाइये   २५७०

फिर भी कृष्ण राधा की मान समाधि भंग नही कर पाते। दूती अपनी असफलता मान लेती है। मान सरोवर मे तिरने वाली राधा का उद्धार उसके वश का रोग नहीं विहरत मान सर कुमारी

दूती राधा को समझाती है कि समय बीतने पर एक पश्चाताप ही रह जायगा—

मन पछितायौ रहि जै है
सुनि सुंदरी यह समो गए तैं पुनि न सूल सहि जैहैं
मानहु मैन मंजीठ प्रेमरंग तेरोहि गहि जै हैं   २५८०

दूती कृष्ण के स्वभाव के बारे मे बताती है जो उन्हें जिस रुप में देखता और चाहता हे वे उसी रुप मे उसे प्राप्त होते है। कहीं ऐसा न हो फागुन की होली की तरह यह यौवन ही बीत जाय ! दूती का अंतिम कथन है:—

अंत नहीं कीजै सुनि ग्वारि
तूं सुनि या हठ तैं सरै न एकौ द्वारि
एक समय मोतिन के धौके हंस चुगत है ज्वारि
हौं जो कहत मानि सखीरी तन को काज संवारि २५९१

नदी कितनी ही चढ़े एक दिन तो उसे समुद्र में मिलना ही होगा। गर्व वही करना चाहिए जो निभ जाय। तुम्हारे पास गर्व करने के लिए क्या है—

कहा तुम इतनी ही कौ गरबानी
जोवन रूप दिवस दस ही को मन्दिर ज्यों तुषार का पानी
नव से नदी चलत मर्यादा सुधिये सिंधु समानी
सूर इतर ऊसर के बरसैं थोरेहि जल इतरानी २५९२

राधा का मन शांत है और नदी समुद्र में जा मिलती है। यह मिलन भी क्षणिक सिद्ध हुआ। श्याम अब सुखमा के घर पर है। अपने सौंदर्य पर मुग्ध गोपियों की दुर्बलता का वह पूरा लाभ उठाते हैं। गोपियाँ राधा को बधाई देती हैं कि उसने कृष्ण को अपने वश मे कर लिया है। सुखमा से वृन्दा और वृन्दा से मुद्रा, मुद्रा से प्रमदा के घर। इस प्रकार घूम फिर कर वही राधा के सम्मुख विपरीत चिन्हों के साथ उपस्थित है। राधा सामने से परोसी थाली हटा देती हे।

कीजै कहा समय बिनु सुन्दरी भोजन पीछे अचवन घी की

सखी पर सखी भेजने पर भी राधा नही मानती। सखी चकडोरी बन गई है—

उततैं पठवत वे, इततैं न मानत ये

हौं तो हौं दुहुन बीच चकडोरी कीन्हौ

नया सम्बन्ध हो तो कुछ समझ में भी आये—

समुझु री नाहिन नई सगाई
सुनि राधिके तोहि माधौं सों प्रीति सदा चलि आई

दूती समझाती है, परन्तु राधा एक नहीं सुनती । श्याम स्वयं ही दूती बनकर उपस्थित हैं और कहते हैं:—

तू वृषभानु बड़े की बेटी तेरे ज्याये जी जै
यद्यपि वैर हिये मैं है री नरिहिं पीठि न दी जै
आपु-पीर पर-पीर न जाने भूली जीवन नातै
कबहुँ गयौ सुन्यौ न देख्यौ तनु में प्रान अकेले
होत कहा है आलस हूँ मिस छिनु घूंघट पट खोले
पावत कहा मान में तूरी कहा गँवावत बोले

वह फिर कहते हैं:—

हित की कहत अनख लागत है समझहु भलै सयानी
मान की चौप मान कीजत है कहँ थोरी ही गरबानी ११८८

श्याम यही समझते है कि किसी ने मत्र कर दिया है । और इसलिए रुठ की लहर राधा का पिंड नही छोड़ती:—

जदपि रसिक रसाल रसीली प्रेम पियूष की पागी
किसी दई सिख मंत्र संचारे तउ हठ की लहर न भागी

राधा तब भी, पत्थर की मूर्ति बनी बैठी है । उसका मौन तब खुलता है, जब उसे मालूम होता है कि श्याम यहीं है । वह कहती है:—

परधन रमन दावागिनी डौलनि कुंजन माँहि
चारन घेनु फेन मथि पीवन जीवन भरयौ वृथाँहि
डासन कांस कामरी ओढन बैठन गोप समाँहि
भूखन मोर पखौवनि मुरली तिनके प्रेम कहां हीं

मोहन का प्रतिवचन है—

प्रेम पतंग परै पावक में प्रेम कुरंग विधैसे
चातक रहे चकौर न सौवे मीन बिना जल जैसे
जहां प्रेम तहाँ मान मानिनी प्रेम न गनियै ऐसे
प्रेम माँहि जो कबहिं रुसनौ तिनहिं प्रेम कहि कैसे

जीत भी मोहन की होती है । राधा उन्हें भ.न देती हैं । चाहे संयोग हो या वियोग, सूर का कवि अपनी बात नही भूलता । अपने प्रेम तत्व के प्रतिपादन का अवसर वह ढूंढ निकालता है । इन लीलाओं में प्रेम के संबन्ध में दो दृष्टिकोण हैं एक मोहन का और दूसरा राधा का । कृष्ण के लिए प्रेम सिद्ध है राधा के लिए साध्य । यही कारण है कि एक के लिए मान की प्रेम में बाधा है जब कि दूसरे के लिए वरदान है । वह कहती है:—

हंस करि उठी प्यारी उरलागी मान में न दुख पायो
तुम मन दियौ आनि बनिता लौ मैं मन मान विसरायौ
ले वलाइ, उर लाइ अंक भरि पछिलौ दुख विसरायौ
श्याम मान है प्रेम-कसौटी प्रेमहिं मान सहायौ

हमने देखा कि राधा के विचार से 'मान' प्रेम में सहायक ही नहीं है, अपितु वह प्रेम की कसौटी है। दूसरी मानलीला एक आकस्मिक कारण से होती है। राधा सहेलियों के साथ नहाने जा रही है। रास्ते में वह एक सखी को बुलाती है। इतने में कृष्ण उसके घर से निकलते दिख जाते हैं। राधा को रूठने के लिए इतना काफी था। सखियों के मनाने पर वह कहती है—

वहु नायक वे तू नहिं जानै तिन सो कहा दूती दुख माने
देख चुकी उनके गुननि निज सैननि सुख पाई
तिन्हें मिलावत मोहि अब बांट गहावत जाई
मिलौं न तिनसों भूलि अब जौं लो जीवन जियों
सहों विरह के सूल वरु ताकी ज्वाला जरौं। १९९३।

राधा अब मोहन के पथ पर पैर रखना भी पसंद नहीं करती। विरह की ज्वाला में जलते रहना, यह राधा की वृति है, और यह पतंग वृति की प्रतिवचन है। संयोग-प्रेम की समाप्ति है और वियोग उसकी अमर साधना। राधा का संकल्प इन पंक्तियों में मुखरित है:—

मैं अपने यह ठानी उनके पंथ न पीवों पानी
कवहुँ नैन न अंजन लाऊँ मृग मह भूलि न अंग चढ़ाऊँ
हस्त कलश पट नील न धारौं नैननि कारै धन न निहारौं

ये वे संकल्प हैं जिनकी प्रतिध्वनि हमे भ्रमरगीत में सुनाई देती है। दूती कहती है 'तू क्या इस प्रकार प्रेम की हँसी कराएगी ?' राधा का उत्तर है—

लाल कहौं किनि कोई पिय सनेह जो गाइ है
चतुर नारी है सोई लियौ प्रेम परिचयौ नहीं

दूती यह सिद्धांत वाक्य राधा के सम्मुख रखती है:—

तुम वै एक, न दोय पियारी जलतै तरंग होइ नहिं न्यारी
रिस रसनौ ओसकन जैसो सदा न रहै चाहिये तैसो

इस पर राधा बिगड़ उठती है और कहती है—

को उनकी यहाँ वात चलावत है वे अब तुमही को भावत
तुम पुनीत अरु वे अति पावन आई हों सब मोहि मनावन

गोपियाँ भी कब हार मानने वाली थीं। एकवार वे दोनों को मिला देती हैं। मिलन की शर्त यह है—

सुनहु श्याम तुम हो इस सागर रूपशील गुन रीति उजागर
तुम तें प्रिय नेकु नहिं न्यारी एक प्रान द्वै देह तुम्हारी
प्यारी में तुम, तुम में प्यारी जैसे दर्पन छांह विहारी

रस में परै बिरस जहँ तेई आइ, होइ परिति अति कठिनाइ
अबकें हम सब देति मनाहू परसौं प्यारी चरन कन्हाइ

इसमें कृष्ण का राधा का चरण छूना गौण है, मुख्य है राधा का मान छूटना।

छूट्यौ मान हरखी प्रिय मिट्यौ बिरह 'वृन्दावन'
उर आनन्द बढ़ाइ प्रेम कसौटी कसि पियहिं

वस्तुतः मान लीलाओं का उद्देश्य ही है 'प्रिय को प्रेम की कसौटी पर कसना।' इसी बीच 'वसन्त' का पत्र आ पहुँचता है। उसे पढ़कर गोपियों में फागु चरित खेलने की इच्छा जाग उठती है—

फागु चरित रस साध हमारे
खेलहिं सब मिलि संग तुम्हारे
ऐसो पत्र पठायौ वसन्त तजहु भामिनी मान तुरन्त
कागद नवदल अम्बनी पाय देत कमल मसि भंवर सुगात
लेखनी काम बनके चाप लिखी अनंग कस दीनी छाप
मलयानिल चर पठ्यौ बिचारि बांचत सुक पिक सुनि सब नारि। २८४५।

मदन लेख पढ़कर पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि मोहन वसंत-क्रीड़ा के लिए निकल पड़ते हैं। वन की अनूठी शोभा है। नये-नये पत्ते, उनपर खिले हुए रंग-बिरंगे फूलों पर भंवर-भंवरियों का उन्माद विहार। शत-शत तरंगों से खेलती हुई यमुना। वसंत की मानवी प्रतिक्रिया है चौवा और चंदन का छिड़काव। गुलाल और अबीर की धूम। ताल और बांसुरी की लय पर थिरकते हुए गीतों की झंकार। गोपियों को स्वीकार करना पड़ता है कि फाग आंतरिक अनुराग प्रकट करने का एक मुक्त माध्यम है। गोपियों की टोलियाँ वसन्त-समारोह में भाग लेने जा रही हैं—

मानों व्रज सँकरिनी चली मदमाती हो
गिरिधर गज पर जाहं ग्वालि मतमाती हो
कुल अंकुश माने नहिं मदमाती हो
सांकर वेद तुराह मदमाती हो

गीतों और नृत्य की रंगारंग बहार के बाद, कृष्ण का मन जमुना के प्रति आत्मीयता से भर उठता है—

जमुना तैहौं बहुत रिझायौ
अपनी सौंह दिए नंद दुहाई ऐसौ सुख मैं कबहुँ न पायौ
मिलौ मातु पित स्वजन, सब सर बनि संग बन विहरन आयौ

ये उद्गार बताते हैं कि श्याम के मन में मथुरा प्रवास की बात है। गोपियां भी एक होली गीत में कृष्ण के मथुरागमन का पूर्व आभास देती हैं—

कछु दिन और रहो होरी है
अब जिनि मथुरा जाहु हरि होरी है
पख करौ घरि आपने हरि होरी है

एक और दूसरे के गीत में भी यही संकेत है:—

सूर रसिक मनि राधिका हरि होरी है
मोह गिरिधरि सौं वात अहो हरि होरी है
श्याम कृपा करि व्रज रहो हरि होरी है
वरजति मधुवन जात, अहो हरि होरी है

कृष्ण भी गोपियों को मथुरा जाने की सूचना देते हैं। उन्हें मथुरा जाना ही होगा क्योंकि वैयक्तिक रागरंग मे वह, लोक–चिन्ता बनी रहती है।

राजधानी असुर आइ जमुना में देऊं बहाइ संतन हित फूल डोल हो

गोपियां जब कृष्ण से अनुरोध करती है : हरि प्रिय तुम जनि चलन कहो

तभी अक्रूर का रथ घर-घर करता हुआ व्रज में प्रवेश करता है। और यहीं संयोग-शृंगार अपनी समाप्ति पर है।

इस प्रकार सूर का कवि, रति जैसी व्यापक वृत्ति को, अपने काव्य के सीमित क्षेत्र मे सुन्दर और गहरी अभिव्यक्ति दे सका है। श्रीमद्भागवत की सामूहिक लीलाओं के बीच, वह राधा-कृष्ण के व्यक्तिगत प्रेम की कहानी को एक मनोवैज्ञानिक आधार देता है, ब्रह्म वैवर्तपुराण में राधा-कृष्ण का जो प्रेम पौराणिक संदर्भ और अप्राकृत परिवेश में आवद्ध था, उसे सूर का कवि और प्रकृति के बीच विकसित दिखाता है। गंधर्व विवाह की कल्पना कर, जहाँ वह राधा कृष्ण के प्रेम को सामाजिक स्वीकृति दिलवाता है, वहीं लोक संस्कारों का वर्णन कर वह उसे लोक-मानस के लिये संवेदनीय वनाता है ? संयोग-शृंगार होते हुये भी, इसमे वियोग की स्थितियाँ या संभावनाएँ अधिक है इसी तरह मिलन की निश्चिन्तताओं की तुलना में, वियोग की आशंकाएँ अधिक हैं। आशंका और उद्वेग के कई स्तरों पर हैं, कभी मनोविज्ञान के स्तर पर, कभी अप्राकृत और आध्यात्मिक स्तर पर। सूर के संयोग वर्णन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उनके सारे सयोग-शृंगार पर यशोदा का वात्सल्य छाया हुआ है। राधा कृष्ण के प्रथम परिचय से लेकर, अक्रूर के रथ के पहिये की घर घर ध्वनि तक यशोदा के स्नेह का आंचल ममता उड़ेल रहा है। सूर का प्रेम उस सौन्दर्य से उत्पन्न है, जो रूप की सबसे बड़ी भेंट है। संमोहन और आकर्पण इसकी प्रमुख विशेपताएँ है। गोचारण-लीला से लेकर वृन्दावन-लीला तक यह प्रणय-भावना लोकजीवन और पारिवारिक स्तर पर विकसित होती है और चीर-हरण में मानसिक स्तर पर। रासलीला में वह सामूहिक स्तर पर विकसित होती है। इसमें अहंकार की इकाइयों का समिष्टगत आनन्द में पर्यवसान है। गोपियाँ आर्प-मर्यादा का उलंघन करती हैं, लोक-मर्यादा का नहीं। रासलीला का आध्यात्मिक उद्देश्य सम्भवत: यही वताना है कि लीला और समर्पण मे एक रस होने पर भी, गोपियां कृष्ण पर चाहे एकाधिकार न चाहती हों, परन्तु विशेपाधिकार तो चाहती ही हैं। कृष्ण का वार-वार अन्तर्धान, इसी अधिकार भावना के विसर्जन के लिये है। पनघट-लीला का प्रयोजन यह दिखाना है कि भाव की आनन्दमय तन्मयता, अभाव में कितनी व्याकुल और शून्य हो उठती है। यही उस लीला की उपलब्धि है। संयोग का अर्थ सूर के शब्दकोप में कुछ दूसरा

ही है । उनके अनुसार संयोग का अर्थ प्रेम का भोग नहीं, अपितु उसका परीक्षण और विश्लेषण है । प्रेम पराभव नहीं, आत्मलम्बन का एक आधार है । हम दूसरे को जितना पाना चाहते हैं उससे कहीं अधिक अपने आपको पाना होता है । इस आत्मोपलब्धि में सबसे बड़ी बाधा है अहं । सूर के लिये संयोग या प्रिय-मिलन आत्मा की क्षमता का क्रमिक विकास है । एक ओर उपलब्धि है, इसे हम ऐतिहासिक या दार्शनिक उपलब्धि कह सकते हैं । उनके संयोग-वर्णन में, निर्गुण प्रेम-साधना की विशेषताओं और मानसिक स्थितियों का अन्तर्भाव है । लेकिन उन्हीं का जो लोक हृदय और बुद्धि से मेल खाती हैं । लीला के हर चरण पर सूर की गोपियाँ, एक ओर कुछ खोती हैं, तो दूसरी ओर कुछ पाती भी हैं । लगता है कि सूर का कवि इस बात पर तुला हुआ है कि मनुष्य की रागात्मक चेतना को निरन्तर आन्दोलित रखा जाय । सूर का कवि, भावना का कवि है, घटना का नहीं । उसका काव्य सचमुच सागर है, जिसमें भावों की अथाह राशि भरी हुई है । घटना का एक छोटा सा कंकर जहां उसमें यहां से वहां तक, भाव-तरंगों को उत्पन्न कर देता है, वहां विशाल घटना का पाषण-खंड घुप से डूब जाता है । राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला, खंड और अखंड की प्रणय-लीला है । आत्मा, काल और क्षेत्र इसके तीन स्तर हैं । इस लीला में अहं, की (खंड की) स्थिति क्या है ? वह साध्य की प्राप्ति का साधन है, और उसकी उपलब्धि की कसौटी थी । दूती के इस कथन का कि **रिस रुसनौ ओसकन जैसी सदा न रहै चाहिये तैसो** का गोपियाँ यह उत्तर देती हैं—

सहौं विरह के शूल बस ताकी ज्वाला जहाँ

इस प्रकार गोपियाँ विरह की ज्वाला में जलती रही हैं और सूर का कवि उनके लिए संयोग का विधान करता रहा है । निर्गुण प्रेम साधना से सूर की सगुण-साधना का यही भेद है । शृंगार की प्रस्तुत संयोगधारा की चरम परिणति है । फाग प्रसंग का अन्तरंग अनुराग, और यहीं गोपियों को कृष्ण के प्रवास की सूचना मिल जाती है, वे प्रिय को रोकने का आकुल अनुरोध करती है, यह जानते हुए भी कि कंस वध लिए श्याम को मथुरा जाना ही होगा ।

⁂

६ | वियोग-वर्णन

सूर के वियोग की पौराणिक पृष्ठभूमि यह है कि देवकाज बनाने के लिए, कृष्ण को मथुरा जाना ही होगा। इसीलिए नारद स्वयं कंस को उकसा कर, कृष्ण को मथुरा आने का निमंत्रण भिजवाते है। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि वियोग के पूर्व, संयोग की सभी स्थितियो का अनुभव गोपियाँ कर चुकी हैं, और समूचा व्रज मानसिक और भौतिक दोनों दृष्टियो से संतुष्ट है। सखाओं और गोपियों को हर प्रकार की संतुष्टि मिल चुकी है। वे यह भी जान चुके हैं कि श्याम एकरूपता में विश्वास नही रखते, उनकी क्षमता विविध और व्यापक है—

जो जिहि भाव ताहि हरि तैसें
हित को हित तैसनि को तैसे
महरि नंद पितु मातु कहाये
तिनहि के हित तनु धरि आए
नंद जसोदा बालक जान्यो
गोपी काम रूप करि मान्यो। २९२२।

सूर का यह संकेत काफी महत्व रखता है, क्योकि कृष्ण-जन्म का उद्देश्य कंसवध ही नही बल्कि व्रज मे क्रीड़ाएँ करना भी है। इस प्रकार वात्सल्य और शृंगार दोनों की धाराएँ सूरसागर में प्रवाहित है, और दोनों के आलम्बन कृष्ण ही हैं। नारद के परामर्श पर, कंस कृष्ण को मथुरा बुलाने का निश्चय करता है। उसे अपनी शक्ति पर विश्वास है और वह कृष्ण-बलराम दोनों को मारने का निश्चय कर चुका है। वह अत्यन्त व्याकुल और चिंतित है। वह अक्रूर को कृष्ण को बुलाने का आदेश देता है—

सुनो अक्रूर यह बात सांची
कहौं आजु मोहिं मोर तचेत नाहीं

कंस के प्रस्ताव पर, अक्रूर ऊपर से अपनी स्वीकृति देते है परन्तु भीतरी विश्वास उनका यह है— अब नहिं बचै कोप नृप कीन्हौं
जैहे छनक तबा ज्यों पानी

अक्रूर से मंत्रणा करने के बाद भी कंस बेचैन है। वह रात भर स्वप्न देखता है। इधर नन्द की भी व्याकुलता अचानक बढ़ने लगती है। उन्हें स्वप्न में दिखाई देता है कि कृष्ण कही गायब हो गये है, उन्हें कोई उठा ले गया है—

बाल मोहन कोऊ ले गयो सुनिके बिलखाने
ग्वाल सखा रोवत कहैं हरि तो कहुँ नाहिं । २९३५ ।

इस स्वप्न-प्रतिक्रिया के ठीक बाद कंस अक्रूर को सिरोपाव देकर व्रज भेज देता है, अन्दर कूच करते हैं, परन्तु उन्हें पूर्ण विश्वास है कि "हत्यारा कंस" अब बच नहीं सकता, वह निवंश होकर रहेगा। केवल पौराणिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, अक्रूर को कंस का आदेश मानना पड़ता है नहीं तो वैसे, वह कृष्ण के कट्टर भक्त हैं। व्रज में पहुँचते ही उनका आगत स्वागत होता है। व्रजवासियों से जो कुछ बातें, उनकी होती हैं, उनसे व्रज के भावी वियोग का उन्हें पूर्वाभास मिल जाता है। अक्रूर के मथुरा जाने का प्रस्ताव रखते ही व्रज में हलचल मच जाती है। व्रजवासियों की पहली प्रतिक्रिया है :—

व्याकुल भये व्रज के लोग
कोउ कहत यह कहा आयो क्रूर याको नाम
सूर प्रभु लै प्रात जैहैं और संग बलराम । २९५८ ।

गोपियाँ चित्रलिखित सी खड़ी हैं—

चलत जानि चितवहिं व्रज जुवती मानहु लिखी चितेरे,
जहाँ सु तहाँ इक टक रहीं गई फिरत न लोचन फेरे

यहाँ नन्द और यशोदा की विशद् प्रतिक्रियाओं का उल्लेख नहीं किया जायेगा, क्योंकि वात्सल्य के संदर्भ में इसका उल्लेख हो चुका है। कल का सवेरा विदा का सवेरा है। देखने की आतुर अभिलाषा में रात बिता सकना गोपियों के लिए कठिन हो रहा है। उनकी वेदना बढ़ रही है और रात है कि जाने का नाम ही नहीं लेती। वे सोचने लगती हैं कि क्या वे सचमुच जायेंगे ? जाकर वापस आयेंगे कि नहीं ? क्या उन्हें बिछुड़ने का दुःख नहीं ? ये हैं वे जिज्ञासाएँ और प्रश्न जो गोपियों की वाणी में अनुगीत हो उठे हैं—

सुनेरे श्याम मधुपुरी जात
सकुचानी कहि न सकत काहूसो गुप्त हृदय की बात
नींद न परै घटै नहिं रजनी कब उठि देखौं प्रात
नंद नंदन तो ऐसे लागे ज्यों जल पुरइन पात
सूर श्याम संग ते बिछुरत हैं कब अयहैं कुशलात

निरीह आकुलता में गोपियाँ, पुराने सभी संदर्भ भुला बैठती हैं, और समझती हैं कि सारे बखेड़े की जड़ अक्रूर हैं।

सूरदास प्रभु अक्रूर कृपा है सही विपति तन गाढ़ी २९९४

वे अपनी आंखों तक का विश्वास खो बैठती हैं—

बिछुरत आजु इन नैननि की परतीति गई
रूप रस की लाची कहावत सों करनी कछु के न भई

कृष्ण के विदा की प्रतिक्रिया है, सन्नाटा, शून्यता और विस्मृति। अक्रूर ज्ञानी भक्त हैं और वह सारी स्थिति से अवगत हैं, परन्तु वह विवश है:—

लिए जात इनको मैं मथुरा कंसहि महा डरयौ

कृष्ण मथुरा पहुंचते हैं और वहाँ धोवी के वस्त्र लूटने से लेकर कंसवध तक की वे सारी घटनाएँ घट जाती हैं, जिन्हें पुराणों की भाषा में सुरकाज कहा गया है। इस समूचे पौराणिक इतिवृत्त को सूर बहुत ही सीमित शब्दों में वर्णित कर देते हैं:-

कंस मारि सुर काज कियौ
मात पिता वंदि ते छोरे दुख विसरयौ आनंद हियौ
उग्रसेन के धाम मिलै हरि अभय अटल करि राज दियौ
असुर वंस निरवंस छिन छिन में ऐसो नहिं कोऊ और वियौ
मिली कूबरी चंदन लैके ऐसेहि हरि से नाम लियौ ३०९९

'कूवरी का मिलना' गोपियों की दृष्टि से सूर सागर की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। और यह घटना, नंद के मथुरा में रहते ही घट जाती है। दूसरी भूमिका, तब प्रारम्भ होती है जब नंद मथुरा से लौट कर व्रज-भूमि पर पैर रखते हैं, यशोदा उन्हें आड़े हाथ लेती हैं। नंद अपनी गलती स्वीकार लेते हैं कि उन्हें कृष्ण के बिना, इस प्रकार अकेले नहीं आना चाहिए। वह कृष्ण के सब कार्यों और उपलब्धियों का विवरण दे देते हैं, परन्तु कृष्ण—कुब्जा मिलन को जानबूझ-कर नहीं बताते। इसकी खबर देता है, एक ग्वाल बाल, जो नंद के साथ मथुरा गया था। वह कहता है:—

ग्वारनी कही ऐसी जाइ
भये हरि मधुपुरी राजा बड़े वंस कहाइ
सूत मागध वदत विरदनि वरनौ वसुऔसात
राज भूषन अंग विराजत अहिर कहत लजात
मातु पितु वसुदेव देवें नंद जसुमति नाहि
यह सुनत जल नैन ढारत मांजि करि पछितांहि
मिली कुविजा भलै लैके सो गई अरधंग
सूर प्रभु वस भये ताकै करत नाना रंग

गोपियों की भावी प्रतिक्रियाओं और वियोग की स्थितियों को समझने के लिए यह एक महत्व पूर्णसंकेत है।

यह संदर्भ वह आधार है जो गोपियों की चेतना को झनझना देता है। वे विरह की आग में डूब जाती हैं। यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि यशोदा की तरह गोपियां निराश हो चुकी थीं, परन्तु यदि उनमें आशा रही भी होगी (कृष्ण के आने की) तो कुब्जा-प्रसंग ने उस पर पानी फेर दिया होगा। गोपियों में आवेशमयी जितनी भी स्थितियाँ, उग्रता, व्यंग्य आते हैं वे कुब्जा के कारण, एक प्रकार से यह गोपियों की मानसिक अग्नि-परीक्षा का प्रसंग है। भ्रमरगीत में जो भी उपलब्धि सूर के कवि को हुई है वह कुब्जा के कारण। इस प्रसंग में गोपियां नारी की सहज दुर्बलताओं को खोल कर रख देती हैं और यही दुर्बलताएँ उनके लिए विजय-चिन्ह बनती हैं। संयोग में गोपियां प्रिय को ही पा सकी थीं, परन्तु वियोग में वे अपने को पा लेती हैं। आत्मा की ऐसी सरस उपलब्धि, ज्ञानवान या हठयोग में कहां ! कृष्ण से कुब्जा के संबंध की

बात सुनकर पहली प्रतिक्रिया होती है, ईर्ष्या । गोपियाँ स्पष्ट स्वर में स्वीकार करती हैं:—

सौत साल उरमें अति साल्यौ नख सिख लौ महरानी
सूरदास प्रभु ऐसेई माई कहति परस्पर बानी

दूसरी प्रतिक्रिया है क्रोध, निराशा और परिताप—

कुबिजा को नाम सुनत बिरह अनल जूडी
रिसनी नारी महर उठी क्रोध मध्य बूडी
आवन की आस मिटी ऊरध सब स्वासा
कुबिजा नृपदासी हम, सब करी निरासा
लोचन जलधर अगम बिरह नदी बाढ़ी
सूर श्याम गुन सुमिरत बैठी कोऊ ठाढ़ी ३१४३

संसार में दुख की तीव्रता का कारण है, दूसरों की स्थिति से अपनी स्थिति की तुलना करना—

कुबिजा श्याम सुहागिनी कीन्हीं
आपु भये पति वह अरधंगी गोपिनि नाऊं धरयौ नवरंगी
वै बहु रमन नगर की सोउ तैसोइ संग बन्यों अब दोऊ
एक एकतैं गुननति उजागर वह नागरि वै तो अति नागर
जानि अनौखी मनहि चुरावैं सूरज प्रभु अब नहिं ब्रज आवैं

तुलना केवल व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि विषमता की कई स्थितियां वे निर्मित कर लेती है । गोपियों में उत्तरोत्तर यह पराजित भावना घर करती जाती है कि कुब्जा से उनका जीतना असंभव है । कारण स्पष्ट है, वे ग्रामीणाएँ है जबकि कुब्जा नागरिका । वे पुरानी है, जबकि कुब्जा नई । सबसे बड़ी बात तो यह है कि कुब्जा ने कृष्ण को वश में कर लिया है—

देखो कूबरी के काम ?
आप कहावति पटरानी, बड़े राजा श्याम ?
कहति नहिं कोऊ, उनही कासी वै नहिं गोपाल
वै कहावति राज कन्या वे भयै भूपाल
पुरुष को ही सबै सोहे कूबरी किहि काज
सूर प्रभु को कहा कहिए बेंचि खाई लाज

उनका हर लक्ष्य कुब्जा के इर्द गिर्द घूमता है—

भामिनी कुब्जा सौ रंगराते
राजकुमारी नारी जो पवते तो कब अंग समाते ३१५३

ईर्ष्या की ज्वालाओं में से जलकर ब्रज की दशा अपने यथार्थ रूप मे निखर कर आती है । आनन्द-शून्य ब्रज में गोपियों की दशा वही है जो मधु तोरे साखी की होती है । वे जिस प्रेम मधु को कण-कण संजोती रही, उसे केवल उजड़ते ही नही देखती, प्रत्युत दूसरा उसका भोग भी कर रहा है—

निस दिन करी कृपन की संगति कियौ न कबहुं भोग
सूर विधाता रचि राख्यौ वह कुबिजा के मुख जोग : ३१६० :

वियोग का हलका भी आघात प्रेम की स्थिर दुनियाँ को हिला देता है। गोपियां अनुभव करती है कि प्रिय के साथ, वह सब चला गया, जो अपना था, और गले वह सब पड़ गया, जो अपना नहीं था। इस चला-चली में सबसे अधिक चिढ़ाने वाली जो वातें होती हैं वे हैं सयानपन और उपदेश—

वातनि सब कोई समुझावै
जिहि विधि मिलनि मिलै वे माधौ, सो विधि कोऊ न वतावै ?
जद्यपि जतन अनेक सोचि पचि, त्रिया मनहिं विरमावै

कृष्ण की प्रेम-वृत्ति पर उनकी टिप्पणी है—

प्रीति करि दीन्ही गरे छुरी
जैसे चुगाह कपट कन पीछे करत वुरी
मुरली मधुर चैप वजंया, करि मोर चन्द्र फंदवारी
वंक विलोकनि लग लोभ वस, सकी न पंख पसारी
तरफत छांडि गए मधुवन को, वहुरि न लीन्हीं सार
सूरदास प्रभु संग कल्प तरु, उलटि न वैठी डार : ३१८५ :

प्रिय के अभाव में हर वात वदली हुई लगना उनके लिए स्वाभाविक है। उन्हें अतीत की एक घटना याद आ रही है। शाम के समय कृष्ण का गोचारण के वाद लौटना। दूर से गूंजती हुई वंशी का स्वर, फिर उन्हें याद आती है संध्या की मादकता, श्याम के रूपपान से कभी न अघाने वाली तृप्ति। वे वार-वार प्रिय के आने के लिए मनुहार करती है। वे समझती है कि उनके अप्रिय व्यवहार ने प्रिय को इतना अप्रसन्न कर दिया है कि वह नहीं आना चाहते। वे संकल्प करती है—

फिरि व्रज वसौ गोकुल नाथ
अव न तुमहिं जगह पठावैं गोधननि के साथ

इस वीच वर्षा आती है। गोपियाँ उससे होड़ करती है। और उसे हरा देती हैं—

सखी इन नैननि ते घन हारे
विन ही रितु वरसत निसि वासर सदा मलिन दोउ तारे
अरथ स्वास तेज समीर अति सुख अनेक द्रुम डारे
वदन सदन करि वसे वचन खग दुख पावस के मारे
मानो परन कुटी सिव कीन्हीं विव मूरति धरि मारे : ३२३४ :

आंखों को कुछ ऐसी वान पड़ गई है कि वे श्याम के रूप को देखती हैं, देखकर उसके रंग में रंगती है, और रंग कर, रूप की प्यास में तड़फती रहती हैं, श्याम रूप के विना उन्हें सब कुछ अपरूप या अरूप हो रहता है—

जा दिन नंद नंदन के नैननि अपने नैन मिलैहौं
सुनिरी सखी यहे जिय में है भूलि न और चितैहौं

वे जानती हैं कि प्रिय दूर नहीं है, फिर भी उसके पास जाना उनके वश की

बात नहीं। वश की बात होती तो उड़कर वे कभी की पहुंच चुकी होतीं—

सखी उत है वह गांव
जहाँ बसत नन्दलाल हमारे मोहन मथुरा नाउं
कालिंदी के कूल रहत है परम मनोहर गाउं
जो तन पंख होइ सुन सजनी अबहि वहाँ उड़ जाउं
होनी होइ सो अबही, ईहि ब्रज अन्न न खाउं : ३२५३ :

खैर वे तो विवश हैं, परन्तु क्या प्रिय संदेशा तक नही भेज सकते ? पहले तो वे सब कुछ हम पर निछावर करने को प्रस्तुत थे, और दो बोल भी अब पाती में लिखकर नहीं भेज सकते। उन्हें कागज और स्याही भी भारी जान पड़ती है। प्रिय की इस उपेक्षा और अपने प्रति उदासीनता का वे एक ही कारण मानती हैं, और वह है कुब्जा :—

आपुन जाई मधुपुरी छाए कुब्जिा संग सुख चैन
सूरदास प्रभु अविचल जोरी वह कुबरी के बैन

इस प्रकार कुब्जा-प्रसंग गोपियों की भाव-चेतना को सबसे अधिक उत्तेजित करता है। उन्माद, मूर्छा और भाव विह्वलता, उसी की प्रतिक्रियाएँ है। उनके लिए यथार्थ सपना बन जाता है, और सपना यथार्थ। स्वप्न-दशाएँ उनकी मानसिक स्थितियों को एक-दम उजागर कर देती है। कितनी विवशता है उनकी :—

सपनेहू में देखिए जो नैननि नींद परे
बिरहिनी ब्रजनाथ बिनु कहि कहा उपाय करै ?

परन्तु उन्हें सपना भी नसीब नहीं। वह सोती हैं, सपना आता है, और उसके साथ आते हैं 'प्रिय'। 'प्रिय' को देखकर गोपियाँ चौंक उठती हैं, और वहीं रंग में भंग हो जाता है :—

सोवत ही सुपने में अति सुख सत्य जानि जिय जानी
सूरदास प्रभु मिलन कों चातक ज्यों रही लागी
जो जागी तो कोऊ नाहीं अन्त लगी पछतान
जानो सांच मिलै मनमोहन भूलीं ईहि अभिमान : ३२६० :

अभी तक :—

हमकों सपने हूँ में सोच
जा दिन तें बिछुरे नन्द नन्दन ता दिन तें यह सोच
मनो गोपाल आये मेरे गृह हँसि करि भुजा गही
कहाँ कहौ बैरन भई निद्रा निमिख न और रही
ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखिकै आनंदै पिय जानि
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियौ जल आनि : ३२६८ :

जब विधाता ही रूठ जाय तो सुख की आशा किससे की जाय ? प्रिय के बिना, चाँदनी रात उन्हें ऐसी दिखाई देती है मानो नागिन किसी को डसकर उलट गई हो :—

प्रिय बिनु नागिन कारी रात ?
जो कछु जामिनी उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात

जंत्र न फुरत मंत्र नहिं लागत प्रीति सिरानी जात
सूर स्याम बिनु बिरहिनी मुरि मुरि लहरैं खात : ३२७२ :

गोपियों के लिये उनके उद्गार चाहे जितने भावुक हों पर सूर के कवि के लिए वे साभिप्राय है। क्योंकि वह जानता है कि श्याम की चिट्ठी आएगी, और मंत्र-तंत्र सिखाने वाला भी कोई-न-कोई मथुरा से आयगा ही। न चाहते हुए भी गोपियों का विश्वास हो गया है कि उनका प्रिय नहीं आयगा। न आने का मुख्य कारण है, दोनों के बीच गहरी खाई :—

सखीरी हरि आवहि किहि हेत
वे राजा तुम ग्वारि बुलावत यहै परेखौ लेत
अब सिर कनक छत्र राजत है मोर पंख नहिं भावत : ३२७८ :

दार्शनिक भूमिका पर पहुँचने के पूर्व प्रकृति के संदर्भ में गोपियों का प्रेम-दर्शन गहरा रंग पकड़ लेता है, और वे उसके परिणामों का भी ज्ञान प्राप्त कर लेती है :—

"प्रीति करि काहु न सुख लह्यौ
प्रीति पतंग करी पावक सों संपुट मांझ गह्यो
सारंगप्रीति करी जु नाद सौं सो संमुख बान सह्यो"

इन सब उदाहणों का निष्कर्ष है — "प्रीति तो भरि बोई न विचारै"

भारतीय काव्य में वर्षा का प्रिय-वियोग में एक ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आकर्षण रहा है। गोपियां इस तथ्य को जानती है। आश्चर्य उन्हें यही है, बादर आते हैं, परन्तु वे प्रिय को संदेश भेजने तक के लिये मजबूर नहीं कर पाते! जबकि उनके संदेशों से मथुरा के कुएं पटे पड़े है :—

संदेशनि मधुबन कूप भरे
अपने तो पठवत नाहि मोहन, हमरे फिरि न फिरे
जितने पथिक पठाए मधुबन कौ बहुरि न सोध करे : ३३०१ :

प्रिय के बिना, बादलों की सदल बल चढाई, गोपियों के लिये एक समस्या है? चारों ओर उठता हुआ धूल का धुंध, बादलों के गरजते निशान, चातक, मोर और कोयल की आवाजें, घटाओं के गज, बिजली की तरवारें और बूंदों के तीर। इन उपकरणों से सज्जित सेना का नेतृत्व कर रहा है, सेनापति स्वयं कामदेव। गोपियाँ पराधीन हैं। अपने प्रिय के बारे मे वे जितना सोचती हैं, उतनी निराशा उनके हाथ लगती है! बादरों तक को अपने आश्रितो का ध्यान रहता है। चातक की पुकार पर वे दौड़े आते हैं। समूची प्रकृति खिल उठती है, और ये वे बादल है जिन्हें कवि-परंपरा जड़ मानती आई है—

बरु ये बदरा बरसन आये,
अपनी अवधि जानि नंदनंदन, गरजि गगन घन छाये
कहियत हैं सुरलोक बसत सीख सेवक सदा पराये
चातक जन की पीर जानि कै तेऊ तहां ते धाए

और कृष्ण है कि निकट रह कर भी सुध नहीं लेते! लगता है उनकी मथुरा पर

समय का प्रभाव नहीं पड़ता । घनश्याम के आने पर भी जब श्याम नहीं आते तो गोपियां उन्ही में प्रिय की छाया देखने लगती हैं—

आज घनश्याम की अनुहार
आए उठाइ सांवरे सजनी देखि रूप की डारि
इन्द्र धनुष मनु पीत वसन छवि दामिनी दसन विचारि

जब बादलों में प्रतिबिम्बित रुप का दर्शन भी उन्हें संतोष नहीं देता, तो वे चातक को असीसने लगती हैं—

वहुत दिन जीवो पीपहा प्यारो
वासर रैनि नाम लै बोलत भयौ विरह जुर कारौ
आपु दुखित, पर दुखित जानि जिय चातक नाम तुम्हारौ
देख्यो सकल विचारी सखि जिय बिछुरन को दुख न्यारो
जाहि लगि सोई पे जाने प्रेम बान अनियारो
सूरदास प्रभु स्वाति बूंदि लगि तज्यौ सिन्धु कहि खारौ : ३३३७ :

गोपियों की परेशानी का सबसे बड़ा कारण है कृष्ण का ब्रज नहीं आना । उन्हें लगता है, हो न हो, मथुरा की चमक-दमक ने उन्हे रोक रखा है—

श्याम विनोदी रे मधुवनिया
अब हरि गोकुल काहों को आवत गावत नवयौवनियां
वे दिन माधव भूल गये जब लिऐं फिरावत कनियां
अपनै को जसुमति पहिरावत तनिक कांच की मनियां
दिना चारि तै पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियां
सूरदास प्रभु बाकै वस परि अब हरि भये चिकनियां

मेघ छटा देख कर उसकी आँखे भर आती हैं—

कारी घटा देख बादर की नैन नीर भर लाये री

प्रश्न है गोपियों की छाती विरह-ज्वाला में जलकर खाक क्यों नहीं हो गई ? अतीत के क्षणों की मधुर स्मृतियां उनके साथ न होतीं तो शायद उनका जीना कठिन था ! जिस आशा पर वे वियोग के कठिन पल विता रही हैं, उसका एक मार्मिक आधार है—

एक धौंस कुंजन में मांई
नाना कुसुम लेई अपने कर दिए मोहिं सो सुरति न जाई
इतने में घन गरजि वृष्टि करि, तनु भीज्यो सो भई जुड़ाई
कंपत देखि उठाई पीत पट, लै करुणामय कंठ लगाई
कहै वह प्रीति रीति मोहन की
कहं वलवीर सूर प्रभु सखीरी
मधुवन बरसे सव रीति विसराई

इस प्रकार उनके हृदय पर प्रेम की जो अमिट लकीर खिंच गई है, वह तो रहेगी ही चाहे प्रिय रहे या न रहे ? यह आशावाद वज्र की दृढ़ता के साथ उनके

मानस पर अंकित है :—

छूत अरु अछूत एक रस अन्तर
मिटत नहिं कोउ करौ करोरी

कृष्ण की निठुरता के बारे में क्या कहें जो अपने माता-पिता को ही भूल गये :—

नंद जसौदा हूँ को बिसर्‌यो हमरी कौन चलावै
सूरदास प्रभु निठुर भये री पातिहु लिखि न पठावै

वियोग का गोपियों के लिये सबसे बड़ा महत्व यही है कि उन्हें अनुभव होता है कि प्रेम वियोग में उत्पन्न होता है। उनका यह विश्वास कालिदास के इस विश्वास के विरुद्ध है जिसमें यह समझा जाता है कि प्रेम संयोग में क्षय होता है, और वियोग में राशिभूत। सूरदास कहते है कि विरह-दुःख में ही प्रेम उत्पन्न होता है। उनका यह विश्वास कालिदास के इस विश्वास के विरुद्ध है जिसमें यह समझा जाता है कि प्रेम संयोग में क्षय होता है, और वियोग में राशिभूत। सूरदास कहते हैं कि विरह दुःख में ही प्रेम उत्पन्न होता है—

विरह दुःख जहि नहिं नैकहुं तहं न उपजै प्रेम
रूप रेख न बरन जाकै इह धरयौ वह नेम
त्रिभुवन तन धरि लखत हमको ब्रह्म मानत और
विनु गुनु क्यों पुहुमि उधरै यह करत मन और
विरस रस किहिं मंत्र कहिये क्यों चलै संसार
कछु कहत यह एक प्रगटत अति भरयौ अहंकार
प्रेम भजन न नेकु आकै जोह क्यों समुझाई
सूर प्रभु मन यहै आनी ब्रजहि देऊं पठाई। ३४१२।

यह वही उद्देश्य है जिसकी मनोवैज्ञानिक पूर्ति के लिए कृष्ण उद्धव को व्रज भेजना चाहते हैं। निर्गुण अपने आप मे महान् और पूर्ण हो सकता है ? परन्तु उससे धरती की समस्याओं का समाधान नही हो सकता। लोक के लिए, इसीलिए सगुण चाहिए। सगुण मान लेने पर भी यदि उसकी उपासना, विराग, नयम या नकारात्मक दृष्टिकोण में की जाय, तो भी दुनियाँ का काम नही चल सकता। उसकी प्रेमोपासना, ही लोक-मन को कुछ ढांढ़स दे सकती है, इस प्रेम उपासना की पूर्णता विरह में है, क्योंकि अहं का विसर्जन उसी में सम्भव है। अद्वैतवादी उद्धव और कृष्ण का साथ वैसा ही है जैसा हंस और कौए का। उन्होने सोचा कि क्यो न उद्धव को उसके ज्ञान के साथ व्रज भेज दूँ।

याको ज्ञान याधि व्रज पठिवौ और न याहि उपाय
सुनहुं सूर याकौ व्रज पठाएं भलो बनैगो दाउ। ३४१८।

उद्धव इसी बीच आते है, और कृष्ण वृन्दावन जाने का प्रस्ताव रखते हैं। कृष्ण स्वीकार करते है कि उन्हें व्रज की याद सताती है, उनके प्राण व्रज में है। उस व्रज में जहाँ नंद यशोदा और दूसरे नरनारी हैं। विशेष रूप से राधा की प्रीति की उपेक्षा कर सकना उनके लिए एकदम असम्भव है। यह सुनकर उद्धव की पहली

प्रतिक्रिया है गर्व का संचार। वह समझते हैं, इससे बढ़कर योग की जीत क्या हो सकती है ? वह दृढ़तापूर्वक मान लेते हैं कि संसार का भोग मिथ्या है, और यह कि आखिर भोग पर योग की जीत होकर रही। उनकी आँखें आकाश में हैं और मन जीत के उन्माद में खो गया है। अब उन्हें योग की विश्वविजय में रत्तीभर संदेह नहीं रह जाता। उद्धव का ज्ञानी मन, कृष्ण के प्रेम पद्धति को समझना तो दूर रहा, उल्टे उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। भ्रमरगीत में भाव और दर्शन की जो समानान्तर धाराएँ चलती हैं, कभी वेग से, कभी मंद, कभी आपस में टकराती और कभी एक दूसरे को पीछे छोड़ती, उसकी पहली और मुख्य भावभूमि यही है। और इसमें कृष्ण का समग्र व्रज-प्रवास आ जाता है। दूसरी है वह विचार भूमि, जिसमें कृष्ण उद्धव को व्रज भेजते हैं। उद्धव को अपनी समस्त आशाओं के विपरीत, जो असफलता मिलती है, उसका मुख्य कारण वास्तविकता को न समझ पाना है। उनकी सबसे बड़ी भूल यही थी कि उन्होंने भावभूमि पर तर्क का पौधा रोपना चाहा। श्याम की वेशभूषा में, उद्धव व्रज पहुँचते हैं। बाहरी दृष्टि से उनमें और श्याम में कोई अन्तर नहीं है। गोपियाँ भ्रम मे पड़ जाती हैं। वे प्रिय के आने का सगुन मना रही थीं कि उद्धव को देखकर उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है, और उन्हें विरह की एक नई अनुभूति होती है—

सूरदास मिटी दरसन आस नूतन विरह जगायौ

इस नूतन विरह की एक नहीं, अनेक अनुभूतियों की गीतिमाला का नाम है भ्रमरगीत। परिचय और कुशल क्षेम के अनन्तर, उद्धव और गोपियों में वार्तालाप प्रारम्भ होता है। वर्तालाप दो स्पष्ट समानान्तर पक्षों पर आधारित है। तर्क की भाषा में जिन्हें हम पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष कह सकते हैं। पूर्व पक्ष में उद्धव कंसवध से लेकर सुरकाज-संपादन तक के समाचार सुनाने के बाद, एक पत्र देते हैं और निर्गुण उपासना का उपदेश भी। इन दोनों की पहली प्रतिक्रिया पूर्ण रूप से भावात्मक है। इस पार्श्वभूमि में, प्रिय के पत्र पर आँसुओं का बह जाना और श्याम की पाती का श्याम हो जाना, अतीत के मधुर संबंधों की याद में कौंध जाना, बाल-संघाती से मिलने की उत्कंठा जागरित हो उठना, एक ही घटना की विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हैं। गोपियाँ भी लिफाफा देखकर मजबून भांप लेती है, और उसका उत्तर देने में कोर कसर नहीं रखतीं। लम्बे उत्तर पर कहीं अंक न कट जांय, इसीलिए वह पहले ही कह देती हैं—

ऊधौ लायी चीठी
गोपीनाथ लिखी कर अपनै यामें योग बसीठी
आजहु भस्म जु मुद्रा सेल्ही हियै लगत सब सीठी

इस पत्र के मुख्य मुद्दे दो हैं—पहला है 'योग' और दूसरा है 'कुब्जा' और इस पर गोपियों की सहज टिप्पणी यही है कि यदि उन्हें यह सब करना था तो प्रेम का संबंध ही क्यों बढ़ाया। सहज तर्क है कि जब कृष्ण के पास योग और कुब्जा एक साथ रह सकते हैं तो फिर उन्हें योग का उपदेश क्यों ? उनकी शुभ कामना है—

जहाँ रहौ तहं कोटि बरस लगि जियौ श्याम सुख सौही
वे कुबिजा बस हम जु जोग बस सूर आपनी सौहीं

ठीक इस समय होता है भ्रमर-प्रवेश। गोपियाँ भरी बैठी थीं। भौरे का गुन-गुनाना था कि वे उस पर टूट पड़ीं—

इहि अन्तर मधुकर इक आयौ ·
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै सुंदर सबद सुनायौ
पूछन लागि ताहि गोपिका कुबिजा तोहि पठायौ
कीधों सूर श्याम सुन्दर कों हमें संदेशो लायो : ३४९७ :

उद्धव न तो कृष्ण-कुब्जा के प्रणय की बात बताते हैं और न ही उस संदेश के बारे में कुछ कहते हैं, जो कुब्जा ने उन्हें दिया था। वह जान-बूझकर इस तथ्य को छिपाते समझती हैं। गोपियाँ यह जानते हुए भी उद्धव पर सीधा आक्रमण करना शालीनता के विरुद्ध है। गोपियों को भ्रमर की आड़ मिल जाती है और वे अपने तर्क-तीर छोड़ना शुरू कर देती हैं। व्रज के मैदान में उद्धव अपने आपको असहाय और एकाकी पाते हैं। गोपियाँ सबसे अधिक केन्द्रित कुब्जा पर हैं। वे जो कुछ भी कहती हैं, उसमें उनकी अनुभूतियां, वेदना, अतीत-स्मृतियां अन्तर्मुखी वृत्ति, उन्माद-मूर्छा-सब कुछ आ जाता है, और इन सबमें से उभरकर आती है, गोपियों की प्रेम-निष्ठा। उद्धव जिस हठयोग साधना का प्रतिपादन करते है उसका सबसे कमजोर पक्ष है 'कुब्जा'। गोपियों का यह समझना, बहुत कुछ सही है, कि उनके प्रेम में सबसे बड़ी बाधा "कुब्जा" है।

भ्रमर गीत में उत्तर-प्रत्युत्तर की कई शृंखलाएँ हैं-एक शृंखला पूर्व पक्ष की है और दूसरी उत्तर पक्ष की। उद्धव अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

सुनो गोपी हरि को संदेश
हरि समाधि अन्तर्गति ध्यावहु यह उनको उपदेश
वे अविगत अविनासी पूरन सब घट रहे समाय
तत्व ज्ञान बिन मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाय
सगुन रुप तजि निर्गुन ध्यावहु इक चित इक मन लाय
वह उपाय करि विरह तरौ तुम मिलै ब्रह्म तब आय

और इस प्रकार वह वेद और पुराणों के साक्ष्य पर व्यापक निर्गुण की अन्त-र्मुखी उपलब्धि का प्रतिपादन करते है। दूसरे शब्दों में विरह की मुक्ति का उपाय है सगुन रूप का परित्याग। दूसरा वचन उद्धव का यह है—

जानिकरि बावरी जनि होऊ
तत्व भजं दैसी ह्वै जै हौ पारस परसे लोहु
मेरे वचन सत्य करि मानो छांडो सबको मोहु
तो लगी सब पानी की चुपरी जो लगि अस्थित होहु

तत्व ज्ञान ही वह पारस है जो लोहे को सोना बना सकता है। तीसरा वचन है कि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है वियोग की कल्पना अज्ञान के कारण है—

घट घट व्यापक दाह अगिनि ज्यौ सदा बहो उर माँहि
निर्गुण छांडि सगुन को दौरति सुधौ कहो किहीं पांहि
तत्व भजौ जो निकट न छूटे ज्यौ तनु तै छांही

चौथा वचन है कि अद्वैत ही शाश्वत सत्य है, संसार अनित्य और क्षणभंगुर है--

कहयौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु त्रिगुन मिथ्या मेष

ज्ञान के सूत्र रटे है ? यही कारण है कि गोपियों के मर्मभेदक तर्कों पर उद्धव जैसे महापंडित को 'अवाक' रह जाना पड़ता है। योग के अभ्यास के लिये गुरु की पहली आवश्यकता है—

सतगुरु चरन भजै बिनु विधा कहु कैसे कोऊ पावै
उपदेशक हरि दूर रहें तो क्यों हमरे मन आवै
जोग लाग मुनि नगर तजे वरु साधन गहन बन धावै
जासन मौन नेम मन संजय विपिन मध्य वलि आवै

अपना पक्ष रखते हुए उद्धव ने कल्पना भी न की होगी, कि उन्हें ऐसा उत्तर मिल सकता है ? पात्र, स्थान और गुरु तीनों की दृष्टि से, उद्धव की हठयोग शिक्षा कितनी अस्वाभाविक और अनुचित है। साधना के लिए, उपयुक्त साधन और वातावरण चाहिए इसके लिए वृन्दावन जैसे तपोवन और श्रीकृष्ण जैसे गुरु को छोड़ कर और कौन उपयुक्त हो सकता है ? 'मथुरा' भोग की नगरी हो सकती है। कृष्ण सचमुच योगी हैं, तो उन्हें वृन्दावन आकर रहना चाहिए, या फिर यह समझा जाय कि वे योगी नहीं हैं। गोपियाँ तो यह भी सोचती हैं कि प्रेम का निर्वाह न कर पाने के कारण ही कृष्ण ने हठयोग स्वीकार किया। 'योग' प्रेम के खो जाने का पश्चाताप है, न कि अप्राप्य को पाने का साधन —

मधुकर यह निहचै हम जानी
खोयो भयो नेह नग उनपै, प्रीति काथरी भई पुरानी
पहल अधरसुधा रस सीचों, कियो पोख बहु लाड लडानी
वहुरौं खेल कियौं सिसु जैसो, ग्रह रचना ज्यों चलत पिछानी
वहुरंगी जित जांय तितहिं सुख इक रंगी दुःख रहे दि
सूरदास पसुधन चोरी कै, खायो चाहत चारा पानी : ३७१४ :

गोपियों का हर तर्क प्रेम की मधुरिमा मे लिपटा होता है। स्वीकृति और अस्वीकृति मन की दो क्रियाएँ हैं, जब मन ही साथ न दें, तो गोपियाँ अस्वीकार कैसे करें—

ऊधौं मन नाहिं हाथ हमारे, रथ चढाइ हरि संग गए ले
मैं कहयौ सौ सत्य मानहु सगुन डारहु नाखि
पंचत्रय गुन सकल देही जगत ऐसो भाषि
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहिं यह विषम संसार
रूप रुख न नाम जल थल वरन अवरन सार
मातु पितु कोऊ नाहिं नारी जगत मिथ्या जाइ

सूर सुख दुख नाहिं जाकै भजौ ताकौं जाइ

इन वचनों के उत्तर में गोपियाँ जो प्रतिवचन देती हैं वे उसी क्रम में हैं। पहला प्रतिवचन है कि जब हम निर्गुण को मानती ही नही तो योग साधना को अपनाने का सवाल ही पैदा नही होता। **ऊधौ हमहिं न जोग सिखैयै।** वे जोग उसी दिन स्वीकार चुकी जिस दिन कृष्ण का वियोग संभव हुआ **हम तो तबहिं तैं जोग लियौ।** तीसरा तर्क है जोग जब इतना अच्छा है, तो आप स्वयं उसे धारण क्यों नहीं करते? **ऊधौ तुम क्यों नहीं जोग करो।** सच तो यह है कि योग की बात सुनकर गोपियां जल उठती हैं, **जोग की बात सुनत मेरे अंग आग वई : ३७०३ :**

यह तो हुए वे तर्क, जो हरेक ऐसा आदमी दे सकता है जिस पर अनचाही चीज लाद दी जाय। गोपियो की असली कठिनाई यह नहीं है कि उन्हें नई चीज स्वीकार करने के लिये विवश किया जा रहा है, परन्तु यह है कि वह चिरपरिचित अपनी ही अंगीकृत चीज को क्योंकर छोड़ दें। छोड़कर भी वे उसे दें किसे, कोई उसका योग्य ग्राहक भी तो हो। योग जुगति यद्यपि हम लीनी लीला काकौं दैहों

उलटि जाहु मथुरा मधुकर तुम बूझि वेगि ब्रज ऐहै

प्रश्न नए को ग्रहण करने का ही नहीं, पुराने को छोड़ने का भी है। उद्धव जैसे तर्कवादी को यह भी बताना चाहिये कि गोपियां लीलाएँ आखिर किसे सौंप दें। केवल मुक्ति के लालच मे गोपिया योग ग्रहण करलें, तो कल उनके चरित पर कौन विश्वास करेगा। जब वे आप बीती के संदर्भ मे उद्धव के कथ्य पर विचार करती है तो लगता जैसे सब कुछ उपहास है—

ऊधौ जोग किधौं यह हांसी
दीन्हीं प्रीति हमारे ब्रज सौं दई प्रेम की फांसी
तुम हो बड़े जोग के पालक संग लिये कुविणासी
सूरदास सोई पै जानैं जा उर लागै गांसी : ३७०७ :

उद्धव और गोपियों के बीच असली झगड़ा 'आपबीती' और 'शास्त्रबीती' का है। एक ने जीवन की सहृदयता में प्रेम का पाठ पढ़ा है, जबकि दूसरों ने शास्त्रों से—

मथुरा जबहिं सिधारे
ना तर कहा जोग हम छाड़हि
अतिरुचि कै तुम ल्यायै

यह तो हुई एक स्थिति कि मन उनके हाथ में नही है, मान लीजिए दूसरी स्थिति में वे हैं तो क्या योग को वे मान लेगी? नहीं, क्योंकि मन एक है, और वह कृष्ण पर मुग्ध हो चुका है :— "ऊधौ मन नाहीं दस बीस"

तर्क, आवेश और खीज में, गोपियों की मानसिक स्थिति कितने ही बल खाती है। और उसमें वे बहुत कुछ ऐसा कह डालती है जो उन्हें नहीं कहना चाहिए? फिर भी वे कहती हैं, और कह कर क्षमा मांग लेती है —

विलगि जनि मानो ऊधो प्यारे?

यह सब वे जान-बूझकर नहीं करतीं, बल्कि इस लिए कि–

हरि बिधुरन की सूल न जाई

यह वेदना जितनी गहरी होती है, प्रेम का रूप उतना ही निखरता है। संदेश इस वेदना की गहराई को नहीं भांप सकते। प्रेम की वेदना ही उसकी गहराई को जान सकती है— संदेसनि बिरह व्यथा क्यों जानि

गोपियों की सबसे बड़ी समस्या यह है कि सीमाहीन स्थिति में विरही अपने आपको कहां तक सम्हारे ? प्रतिक्षाजन्य निराशा और गहराई को कम करने का एक साधन उनके पास है और वह है 'विनोद'। राधा को लक्ष्य कर एक गोपी का कहना **मोहन मांग्यो अपनो रूप** उद्धव के निर्गुण उपदेश पर करारा व्यंग्य है ! तर्क यह है, व्रज-प्रवास में कृष्ण का जो रूप गोपियो ने आत्मसात कर लिया है, वह वे निर्गुण उपासना के बहाने वापस मांग रहे हैं।

आशा में निराशा और निराशा मे आशा की किरण खोज लेना सूर के कवि के लिए जितना सरल है उतना किसी दूसरे कवि के लिए नही। उद्धव के अत्यन्त आत्मघाती निराशाजनक उपदेश को भी गोपियाँ अपने लिए वरदान समझती हैं :—

ऊधौ भली करी तुम आए
विधि कुलाल कीन्हें कांचे घट ते तुम आनि पकाये
रंग दीन्हें हो कान्ह संवारे अंग अंग चित्र बनाए
पाते गरे न नैन नेह तें अवधि अटा पर छाये
व्रज करि अवां जोग ईंधन करि सुरति अगनि सुलगाए
फूँक उसास बिरह ¢जरनि संग आशा दरस फिराऐ
भरे संपूरन सकल प्रेम जल छुअन न काहू पाए
राज काज तें सूर गए प्रभु नन्द नन्दन कर लाए

भ्रमरगीत ही तो वह 'अंवा है' जहाँ विधाना द्वारा बनाए गये गोपियों के कच्चे शरीररूपी घड़े प्रेम की अग्नि-परीक्षा मे पक कर पक्के बनते है। उनमें साधना का अथाह जल भरा है। वे अछूते है, क्योंकि प्रिय ही आकर उन्हे छू सकता है और क्या यह सच नहीं है कि विधाता की इन कच्ची मूर्तों को प्रेम ही पक्का बनाता है।

ब्रह्म की पूर्णता और व्यापकता की तुलना में गोपियों को अपनी अनुभूत अपूर्णता और ससीमता अधिक काम की मालूम होती है। यह तो अपनी रुचि और निष्ठा का प्रश्न है—**जाकौ जैसो रूप रुचे सो** अपबस करि लीजै उद्धव का उपदेश उन्हें एक उत्पात जान पड़ता है :—

ऊधो सुनत तिहारे बोल
लियायें हरि कुशलात धन्य तुम घर घर पारयौ गोल
कहन देहु कह करे हमारो बरु उठि जैहैं झोल
आवत ही भागैं पहिचान्यौ चघटहि ओधो तोल ३४७०

उद्धव कुछ भी रहे हों वे तो आखिर मनुष्य ही। उनकी ज्ञानसुलभ कठिनता

गायब होने लगती है, और मन-ही-मन उन्हें मानना पड़ता है कि—

जोग कहि पछतति मन मन बहुरि कछु न कहै
स्याम को यह नहिं बूझे अलिहि रहे खिसाई
कहा में कहि कहि लजान्यो नार रह्यो नवाई
प्रथम ही वचन करि एकै रह्यो गुरु करि मानि
सूर प्रभु मौको पठायौ यहै कारन जानि : ३२२२ :

इस प्रकार जहाँ उद्धव का ज्ञानमूलक अंह पराजित है वहीं गोपियों की निम्न नम्रता उनकी निष्ठा को अधिक द्रढ़ प्रमाणित कर देती है—

आवहुरी सखी सब मिलि सौंध जो पावै नंदलाल,
घर बाहर हें बोल लेहु सब जावदेक ब्रजबाल
कमलासन बैठहुरी माई मूंदहु नैन विसाल
षडपद कहि सीधि कारि देखी हाथ कछु नहीं आई
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन नैकुन देत दिखाई
फिर भई मगन प्रेम सागर में काहु सुधि न रही
पूरन प्रेम देखि गोपिन की मधुकर मौन गही

यथार्थ में देखा जाय तो उद्धव की ब्रज-यात्रा का पहला उद्देश्य प्रेम की पूर्णता का साक्षात्कार करना था। दूसरा उद्देश्य था, विरह की गंभीर वेदना को हलका करना। गोपियाँ साधुवाद दे रही हैं—

मधुकर भली करी तुम आए
वै बाते कहि कहि या दुख में व्रज के लोग हंसायै,
मोर मुकुट मुरली पीताम्बर पठवहु सौंजि हमारी
आपुन जटा जूट मुद्रा धरि लीजै भस्म अधारी
कौन काज वृन्दावन को सुख दही भात की छाक
अब वै श्याम कूबरी दोऊ बने एक ही ताक
वैं प्रभु बड़े सखा तुम उनके जिनकौ सुगम अनीति
या जमुना जल को सुभाव यह सूर विरह की प्रीति

गोपियों की प्रेमधारा उसी तरह निरन्तर प्रवहमान है जिस तरह यमुना की जलधारा। उनका प्रेमदर्शन इसी प्राकृत आधार पर खड़ा है। वे तर्क की झड़ी लगा देती हैं। कभी वे उद्धव को सीधा मार्ग रोकने के लिये झिड़कती हैं, और कभी इतना मूर्ख ठहरा देती हैं कि जो छाछ और दूध में भेद नहीं कर पाता। व्रज का प्रेम बिरवा न सूख जाय इसके लिये "प्रिये के नेह गेह" की कामना करती हैं, कभी वे भाग्यवाद पर विश्वास कर वैठती हैं, ऊधौ लहनौ अपनौ पैये। कभी उन्हें लगता है, "कहाँ संयोग के फूल, और कहाँ वियोग के सूल"। कभी उनकी स्मृति में संयोग की सलोनी दृश्यावली झूल जाती है, कुजों की वह क्रीड़ा नव तरुओं की छांह में प्रिय के बांहों पर सुख शयन, यमुना की लहराती तंरगों में झूलों की पैंगे, एक एक याद उनके हृदय को

कचोटने लगती हैं। इस मधुर प्रसंग में उद्धव की बकवास सुनकर वे खीज उठती हैं—

जोग जुगति की नीति अगम हम व्रज वासिनी कह जानै
सिखवहु जाइ तहां नट नागर रहत प्रेम लपटाने

साधनाओं के इतिहास में गोपियों को जीने के लिये एक ही विकल्प शेष बच रहता है। वे विकल्पों के द्वन्द्व में अपने को डालती ही नहीं। श्याम के बिना जीने का अर्थ होगा कि गोपियां जड़ ज्ञानवाद में आस्था रखने वाली हैं, उनके दुख में प्राणों की आहुति को देने का अर्थ होगा, प्रिय के रुप से अपने आपको वंचित कर लेना, उनकी आशा में तटस्थभाव से जीवित रहने का अर्थ होगा अपने आपको धार्मिक घोषित कर देना। चुपचाप प्रिय के गुणों का ज्ञान करते रहने का अर्थ होगा, कि वे सनकादि जैसे पहुँचे हुए भक्तों की श्रेणी में हैं। स्पष्ट है कि गोपियाँ इनमें से कुछ नहीं बनना चाहतीं। उनके लिए अब एक ही विकल्प रह जाता है, और वह यह, कि वे प्रिय के प्रेम से भरी हुई विरहनियाँ बनी रहे—

ऊधो अब कोऊ कठिन परी,
जो जीवें तो मुनि जड ज्ञानी तन तजि रूप हरि
गुण गावे तो सुक सनकादिक लीला धाई करी
आसा अवधि विचार रहे तो धार्मिक, न व्रज सुन्दरी
सखी मंडली सब जू सयानी विरहा प्रेम भरी
सोक सिन्धु तरवैं को नौका जै मुख मुरली धरी

विरह-वेदना से बचने का एक उपाय और है अनासक्ति या अविभ्रत अलिप्तता। क्या गोपियों के लिये यह संभव है? जीवन और अलिप्तता ये दो विरोधी बातें हैं। यह प्रवृत्ति के भी विरुद्ध है, इसलिये वे कहती हैं:—

ऊधौ तुम हो अति बड़ भागी
अपरस स्नेह तगातें नाहिन मम अनुरागो
पुरइन पात रहत जल भीतर ता रस देहाव दागी
ज्यों जलमाहि तेल की गागरी बूंदन ताकौं लागी
प्रति नदी में पाऊं न बौर्‌यो दृष्टि न रूप परागी
सूरदास अबला हम बोरी गुर माटी ज्यो पागी

अनुभूति की संवेदनीयता और तर्क की प्रखरता से उत्पन्न गम्भीरता को दूर करने के लिये, गोपियां यह भी पूछ बैठती हैं—

उधो जोग कहा है कीजत,
ओढियत है कि बिचैयत है
किधौं कछू खिलौना सुन्दर
कि कछू भूषन नीकौ।

कहने को है उपहास, परन्तु उसमें निहित चोट बहुत गहरी है। जब योग न तो जीवन की आवश्यकताओं को पूरी कर सकता है और न मन की सौन्दर्य चेतना को

तृप्त कर सकता है, तो वह जीवन के किस काम का ? भले ही उससे मुक्ति खरीदी जा सकती हो। उद्धव ब्रह्म को पूर्ण ज्ञानी बताते हैं, और स्वयं भी ज्ञानी है, परन्तु इतनी सी बात बताने में असमर्थ है कि कृष्ण मथुरा से वृन्दावन क्यों नहीं आना चाहते। गोपियाँ खुद न आने का रहस्य उद्धव को समझा रहीं हैं—

लाज गये प्रभु आवत नहीं ह्वै जु रहे खिसियानौ
ले आयौ हम कछु न कहियै मिलि हैं प्रान पियारे
व्याहो बीसधरौ दस कुबिया अन्त हुँ कान्ह हमारे
सुन री सखी कछु नहीं कहियै माधव आवन दीजै
सूरदास प्रभु आन मिलै जो हारि करि करि लीजै

गोपियां भूलने को सब कुछ भूल सकती हैं, पर कुब्जा को भुला देना उनके लिये असंभव है—

उधौ नूतन राज भयौ नये गोपाल नई कुबिजा
बनी नूतन नेह ठयौ
सूरदास प्रभु बहुत बटोरी दिन दिन होत नयौ

कुछ भी हो गोपियाँ यह नहीं देख सकती कि कुब्जा उनके "प्रेम बिरछै" को काट दे। यह तो लोकवाद के भी विरुद्ध है—

यह इतनौ मानुष ही जानै जिनके है मति थौरी
घोंरपै ही बिरवा लगाइम काटत नहीं बहोरी
वै पुकीन अति नागर उधौ जानि परस्पर प्रेम
कैसे मैं पठवत वै आवत टारन को हित नेम

मुश्किल यह है कि ब्रज में अभी तक दो ही संत हुए हैं, अक्रूर और उद्धव, यह सारा उपद्रव उन्होंने ही खड़ा किया है—

जदुकुल में दोऊ संत सबै कहैं तिनके ये उत्पात

इस वियोग धारा की परिसमाप्ति समझनी चाहिये राधा की मूक दशाओं के चित्रण से। इन सबकी जो प्रतिक्रिया उद्धव पर होती है वह यह कि वह ज्ञानवाद की जगह प्रेमयोग को अंगीकार कर लेते है। उनकी ब्रजयात्रा, उनके जीवन की क्रान्तिकारी घटना बन जाती है। उनका आध्यमिक दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वे देखते हैं कि प्राण-शून्यता में गोपियों ने अपना व्यक्तित्व खो नहीं दिया है, बल्कि दूने विश्वास के साथ वे खड़ी है—

यद्यपि सूह प्रताप स्याम कै दानव दुष्ट डारत
तदपि भवन भाव नहिं ब्रज बिनु खोजी दियौ सात

प्राणों की चिन्ता और सुख दुख की कल्पनाओं को तो वे बहुत पहले छोड़ चुकी हैं— सूर गोपाल प्रेम पथ चली करि क्यों सुख दुखनि डरे ?

उन्हें चिन्ता अपनी नहीं, प्रिय की है, वे आ जाते तो कितना अच्छा होता, ब्रजवासियों की चिन्ता दूर होती। उनके यश में चार चाँद लग जाते। उनका प्रेम जीवन की सहज प्रक्रिया में विकसित हुआ है। उसमें डरने की क्या बात ? गोपियों

की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे दो स्थितियों में मेल नहीं बैठा पातीं—

उधो क्यों बिसरत वह नेह
एक दिवस गई गाव दुहावन वहां जु बरख्यौ मेह
लिए उठाई कामरी मोहन नि करि मानी देह
अब हमकौ लिखि लिखि पठवत हैं जोग जुगति तुम लेहु
सूरदास बिरहनी क्यों जीवै, कौन समानप एहु : ४०१७ :

फिर वे पूछ बैठती हैं— ऊधौ हम कत हरि तैं न्यारी,

उनका सबसे मार्मिक तर्क है—

लरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटत ?
कहां कहां ब्रजनाथ चरित अन्तर गति लूटत,
वह चितवन, वह चाल मनोहर वह मुसकान मंद ध्वनि गावनि
नटखट भेष नंद नंदन को वह विनोद वह बन है आवन

वियोगधारा की इसी अनुभूति में सूर का कवि कह उठता है— हरिरस तौ बृजवासी जानै और वह भ्रमर की पराजय की घोषणा कर देता है—

अलि आयौ जो जोग सिखावन
देखि प्रीति लाग्यों सिर नावन
भवन गीति जो दिन दिन गावै
परम भक्ति सो हरि की पावै
सूर जोग की कथान भाई
सदा भक्ति गोपी जन गाई

उद्धव का ज्ञानवाद पराजित है। उनके तर्क छिन्न-भिन्न होकर बिखर गए हैं। वह नत हैं, भक्ति रस में भीग चुके हैं— गोपियां उनसे कह रही हैं— स्वामी पहिलौ प्रेम सम्हारौ

उद्धव मथुरा वापस जाकर, अपनी हार स्वीकार कर लेते हैं। कृष्ण चुटकी लेते हैं— ऊधौ भलौ ज्ञान समुझायौ
तुम मोसों अब कहा कहत हो मैं कहि कहा पठायौ
कहिवावत बजे चतुर पै वहां न कछु कहि आयौ

फिर भी उद्धव स्वीकार करते हैं—

बातैं सुनहुं तो स्याम सुनाऊं
जुवतनि सों कहि बृथा जोग की क्यों न हतौ दुख पाऊं
हौं पचि एक कहौं निरगुन की ताहू धाइ में अटकाऊं
वैं उमड़े वारिधि कै जल ज्यौं क्यों हूं थाइ न पाऊं,
वैं मेरे सर पटिया पारैं कथा काहि उठाऊं
एक आंधरौ हिय की फूटी दौरत पहिरि खराऊं
सूर सकल पद् दरसन वैं हौं बारह खड़ी पढाऊं

उद्धव का दर्शन ही पराजित नहीं है, उनकी बुद्धि और वाणी भी। कहने को

उन्होंने सब कुछ कहना चाहा, परन्तु कह कुछ भी नहीं सके—

कहिबै मैं न कछु सक राखौं
बुधि विवेक अनुमान आपनै मुख आई सो भाखी
हां भरि एक कहां पहरक मैं वै पल मोहिं अनेक
हारि मानि उठि चल्यौ दीन व्है छाँड़ि आपनी टेक
श्रीमुख के सिखयै ग्रंथादिक ते भये कहानी
एक हो तो उत्तर दीजे सूर मठी उफानी

भावों के इसी उफान में सूरसागर का सागरत्व निहित है। उद्धव कृष्ण को व्रज का व्यवहार तो बताते ही है, परन्तु भ्रमरगीत का मुख्य लक्ष्य है 'रसगीत' का प्रतिपादन और साक्षात्कार। उद्धव स्वीकार करते हैं—

सबतें परम मनोहर गोपी
नन्दनन्दन के नेह गेह जिन लोक लीक लोपी
वरु कुविजा के रंगहिं रांचे जदपि तजी सोपी
तदपि तजे भजे निसि वासर नैकहुँ नहिं कोपी

गोपियों ने भले ही गृह-मर्यादा तोड़ी हो, परन्तु प्रेम-मर्यादा वे कभी नहीं तोड़तीं। कुब्जा-प्रसंग की ज्वाला में तपकर भी नहीं। उद्धव इस तथ्य को भी प्रमाणित करते हैं—

व्रज में एक अचम्भो देख्यौ
मोर मुकुट पीताम्बर धारे
तुम गइन संग देख्यौ
गोप बाल संग धावत तुम्हरे
तुम घर घर प्रति जात

वस्तुत: जिसे उद्धव अचम्भा समझते हैं, गोपियों के लिए वह नितप्रति का व्यवहार है। गोपियों का विश्वास है कि कृष्ण कहीं जाकर कुछ भी बन जांय, लोक-प्रभुता, उन्हें व्रजवासियों से ही मिलेगी—

हमरे मन रंजन कीन्हें तें व्है हो भुवन नरेस

इस प्रकार गोपियों का प्रेम पौराणिक पृष्ठभूमि में विकसित होकर, धीरे-धीरे मानवीय प्रक्रिया में पड़कर संवेदनीय बन उठता है। अक्रूर, इसमें निमित्त भर हैं। पहली भूमिका में आशंका, आकुलता, जिज्ञासा विषमता आदि वृत्तियों के बीच कृष्ण व्रज से विदा होते हैं, दूसरी भूमिका, प्रारम्भ होती है, नंद के मथुरा से वापस आने पर। कृष्ण कुब्जा प्रणय की खबर उन्हें इसी भूमिका पर लग जाती है। उनका मन विषाद से भर उठता है। इसी बीच उद्धव के आगमन से यह वियोग अपनी तीसरी भूमिका में होता है। भ्रमर की ओट मिल जाने से गोपियों के भावों की अभिव्यक्ति सरल और सीधी हो उठती है। आवेग, ईर्ष्या, उपालम्भ, वाचालता अतीत की मधुर स्मृतियां सभी कुछ, उसकी लपेट में आ जाता है। प्रिय का अभाव एक ऐसा अभाव है जो भावनाओं की कई स्थितियां बदल देने की क्षमता रखता है। क्योंकि भाव की

पूरी पहचान अभाव पर ही निर्भर करती है। सूर का कवि मानता है कि प्रेम की वेल वियोग की भूमि पर उपजती है। वियोग, एक प्रकार से संयोग की मानसिक अनुभूति है। वियोग के दुख का मूल्य वही समझ सकता है, जिसने वियोग का जीवन में अनुभव किया हो, **विरह दुख जहं नहिं तहं न उपजै प्रेम**। सूर के अनुसार संयोग में प्रेम का स्थूल पक्ष ही उद्घाटित होता है जबकि वियोग में सूक्ष्म या मानसिक।

और यह कहा जा सकता है कि संयोग' सूर के वियोग का एक अंग है। सूर विषमताओं की कल्पना, जो कई स्तरों पर करते हैं, वह इसीलिए कि मनुष्य विपम ताओं में से समता की कल्पना करता है। तीसरी भूमिका का वास्तविक प्रारम्भ होता है 'उद्धव के हठयोग' के प्रवचन से। इस स्तर, पर सूर का वियोग आवश्यक रूप से आध्यात्मिक हो उठता है। उद्धव को देखते ही, पहली प्रतिक्रिया यह होती है '**सूरदास मिटी दरसन आस नूतन विरह जगायौ**' इस प्रकार विरह की क्षण प्रतिक्षण नूतनता बनाए रखना, भ्रमरगीत की केन्द्रीय प्रेरणा है। क्षण-क्षण में नवीन होते जाना, यदि सौन्दर्य की परिभाषा मानी जाय, तो सूर के अनुसार वियोग ही सौन्दर्य है। जब हम 'क्षणे क्षणे यन्नवता मुपैति' कहते है तो उसका अर्थ मानसिक परिवर्तन है, न कि भौतिक, आत्मनिष्ठ है न कि वस्तुनिष्ठ। पहली भूमिका पर, प्रतिक्रिया एकपक्षीय है, और वह भी प्रतिक्रिया मात्र। उसे अधिक से अधिक किशोर सुलभ चंचलता माना जा सकता है। दूसरी भूमिका पर प्रतिक्रिया, अनुभूतिमय ही नही होती, अपितु उसके लिए एक मनोवैज्ञानिक आधार मिल जाता है। अपने अनुभवों के साक्ष्य पर गोपियाँ प्रेम का विश्लेषण करती हैं। कभी वे सोचती हैं कि दुनियाँ में वे अकेली हैं, यथार्थ सहानुभूति नहीं मिलती, केवल बातों का जमा खर्च है। कभी लगता है कि प्रेम करना तलवार की धार पर चलना है। कभी वे अपने आपको दोषी समझ लेती है, कभी पावस के संदर्भ में उनकी वेदना अधिक गीली हो उठती है, कभी वे अपने और प्रिय के बीच विषमता की कई स्थितियां देखती है। कभी पत्र न लिखने पर आक्रोश उमड़ पड़ता है और कभी बादलों में प्रिय की अनुहार दीख पड़ती है। तीसरी भूमिका पर आकर प्रतिक्रिया दार्शनिक और निर्णयात्मक स्थिति मे होती है।

गोपियों की आत्म साधना, प्रकृति और अनुभव से काफी दृढ़ हो उठती है। अब उन्हें मृत्यु का भय नहीं, आत्मविसर्जन की पूर्णता मे उनका विश्वास बढ़ गया है। वे अब समझने लगी हैं कि प्रेम आत्मघात नहीं, आत्म का निर्माण है, उसकी वास्तविक शक्तियों को पहचान कर उन पर निर्भर रहना है। उद्धव और गोपियों की प्रारंभिक बातचीत, बहुत ही परिचयात्मक और औपचारिक होती है। उद्धव भी कुब्जा-प्रसंग की सूचना गोपियों को नहीं देते। लेकिन गोपियां जान चुकी है कि कुब्जा, हठयोग साधना की बहुत बड़ी कमजोरी है वे उस पर निर्ममता से प्रहार करती है। यहां आकर दो समानान्तर पक्ष हैं। पूर्व पक्ष है-तत्व-प्रतीति, उत्तर पक्ष है-प्रेमप्रतीति। पूर्व पक्ष है, ब्रह्म की व्यापकता और शाश्वत सत्ता उत्तर पक्ष है, सगुण की ससीम क्षणिक सौन्दर्यानुभूति। पूर्व पक्ष है- हठयोग, उत्तर पक्ष है-प्रेमयोग। पूर्व पक्ष है-भविष्य का

स्वर्णिम आश्वासन, उत्तर पक्ष है–अतीत के स्वर्णिम सुख की मधुर भावना, पूर्व पक्ष है–निवृत्ति, उत्तर पक्ष है–प्रवृत्ति । भ्रमरगीत वह अंवा है जिसमें विरह की ज्वाला में तपकर गोपियों के रूप में प्रेम के जीवित मंगल कलश, प्रिय के स्वागत की प्रतीक्षा में प्रस्तुत है । उद्धव की हार, गोपियों की जीत नहीं, सिद्धि है । यमुना की जलधारा की तरह, प्रेम की पीर में निरन्तर वहते रहना, ही उनकी साधना का लक्ष्य है ।

++++++++

७ | प्रतिपाद्य
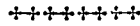
सूर का वियोग-चित्रण त्रिकोणात्मक है। उसका एक कोण है विरह का सामान्य चित्रण, दूसरा है हठयोग की पराजय, तीसरा कोण है प्रेमाभक्ति का प्रतिपादन। पहले कोण में सूर का कवि भावात्मक है, दूसरे में प्रतिक्रियात्मक और तीसरे में दृढ़ और एकनिष्ठ। सूर के कोण अलग-अलग है, परन्तु वे एक ही वस्तु में पिरोये गए हैं, और यह समूची वस्तु 'भ्रमरगीत' में आ जाती है। वस्तुत: 'भ्रमरगीत' एक लाक्षणिक शीर्षक है जिसका लक्ष्यार्थ है वियोग की समूची प्रक्रिया का चित्रण करना। भ्रमरगीत के वास्तविक लक्ष्य को समझने के लिए यह तथ्य नहीं भुलाया जाना चाहिए कि इसके पूर्व कवि संयोग की एक लम्बी पृष्ठभूमि दे चुकता है और यह कि भ्रमरगीत का मुख्य उद्देश्य वही है जो समूचे सूरकाव्य का। सूर का मुख्य उद्देश्य है, प्रेमाभक्ति का रसात्मक आस्वादन, समर्थन और प्रसार। संयोग लीलाओं में प्रेमभक्ति के संयोग का चित्रण है, वियोग लीलाओं में मानसिक अनुभूतियों का। एक में प्रेमाभक्ति की भौतिक उपलब्धियों का प्रदर्शन है जब कि दूसरे में उसकी मानसिक प्रतीति और साधना का। संयोग वियोग के इस तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में जो बात सबसे अधिक उभर कर आती है, वह यह कि, सूर की प्रेमाभक्ति भौतिक प्रक्रिया में से होकर ही आध्यात्मिक भूमिका में प्रवेश करती है और इस प्रकार भ्रमरगीत, प्रेमाभक्ति की मानसिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों का काव्य है। हठयोग या निर्गुण-साधना का खंडन करना उसका वास्तविक लक्ष्य नहीं, उपलक्ष्य है। यह बात हिन्दी की परम्परागत उस आलोचना के विरुद्ध है, जो यह मानती है कि **भ्रमरगीत निर्गुण पर सगुण की विजय का काव्य है।** सूर का दृष्टिकोण इस अर्थ में रचनात्मक स्वीकार किया जा सकता है कि वे विरोधी मत का खंडन वहीं तक करते हैं जहाँ तक ऐसा करना जरूरी है। जहाँ तक साध्य और साधना का प्रश्न है सूर के लिए दोनों का समान महत्व है, अर्थात् **'प्रेमाभक्ति और श्याम'** दोनों का। वे दोनों में अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। प्रेमाभक्ति की सम्पूर्ण प्राप्ति में गोपियों की मुख्य तीन बाधाएँ हैं—अक्रूर कुब्जा और उद्धव। अक्रूर भौतिक बाधा है, कुब्जा मानसिक और उद्धव आध्यात्मिक। उद्धव मात्र बाधा ही नहीं प्रत्युत वे विरोधी की भूमिका निबाहते हैं। वह उस आशावाद पर पानी फेर देना चाहते हैं जो गोपियों की साधना का एकमात्र आधार है। इसलिए यह गोपियों के लिये साधना का ही नहीं, अपने अस्तित्व का प्रश्न है? और साधना से अलग उनके अस्तित्व

की कल्पना नही की जा सकती। सूर अपने प्रतिपाद्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए न केवल तर्क पर निर्भर करते हैं और न भावुकता पर। इसके लिए वे कई माध्यम अपनाते है, जो अपना अपना उद्देश्य रखते हुए भी एक ही मुख्य लक्ष्य की सिद्धि में समा जाते है— यह मुख्य लक्ष्य है—

भ्रमरगीत जो सुनै सुनावै
प्रेमाभक्ति गोपिन की पावै
सूरदास गोपी बड़भागी
हरिदरसन की ढोरी लागी : ४७१२ :

सूर के विचार में गोपियाँ बड़भागी इसलिए मानी जानी चाहिए, क्योंकि उन्हें हरिदर्शन की ढोरी लगी हुई है, इसलिए नहीं कि 'हरि' उन्हें मिल चुके हैं। एक सामान्य भक्त का गोपियों से भेद यह है कि गोपियाँ अपने प्रिय का साक्षात्कार कर चुकी हैं जबकि सामान्य भक्त अपने को दूसरी स्थिति में पाता है प्रश्न है कि क्या भ्रमरप्रवेश मे 'भ्रमरगीत' स्वीकार करने पर **'हरि दर्शन की ढोरी'** उत्पन्न की जा सकती है ? वियोगस्थितियों के विकास - क्रम को जब तक संयोग की पृष्ठभूमि पर नही दिखाया जायगा, तब तक पाठक उस लक्ष्य का अपने हृदय में साक्षात्कार नहीं कर सकता जिसके लिए कवि स्वयं समर्पित है और अपने पाठक को समर्पित करना चाहता है। मोटेतौर पर भ्रमरगीत का कथ्य कुछ वचनों और प्रतिवचनों तक सीमित है। कुल ६ वचन है और इतने ही प्रतिवचन। एक वचन-प्रतिवचन, भ्रमरप्रवेश के पूर्व का है, शेष बाद के। प्रारंभ में गोपियों की जिज्ञासा है कि प्रिय क्यों नहीं आए। उनके बिना उनका पल युग बनकर बीत रहा है। फिर भी गोपियाँ कृतज्ञ हैं कि उद्धव आए। उद्धव इन जिज्ञासाओं के उत्तर में सबसे पहले कंसबध और उग्रसेन को राज्य दिये जाने की घटना का उल्लेख करते है और फिर पत्र के साथ यह सन्देश देते हैं—**निर्गुण-धारण कर तुम आशंका से मुक्त हो सकती हो।** गोपियों पर इसकी प्रतिक्रिया आँसुओं में होती है, श्याम का पत्र श्याममय हो जाता है और घूम फिर कर वह उद्धव के हाथ में होता है। उद्धव उसे पढ़कर सुनाते है कि गोपियों को हठयोग अंगीकार करना है। प्रतिवचन मे गोपियाँ इसे एकदम असभव समझती है। उन्हें उस बात का भी दुःख है कि उद्धव ज्ञानी होकर भी दो बातों में भेद नही कर पा रहे हैं। शरद् का विलास और योग के उच्छ्वास, एक ही चीज नहीं हो सकते। उन्हें हठयोग के मूल में कुब्जा की चाल नजर आती है। फिर भी वे अपने प्रिय को असीसती है कि वह करोड़ों वर्षों तक जिएँ। यह तो भाग्य का खेल है कि प्रिय कुब्जा के वश में है और स्वयं गोपियाँ योग के वश में। वैसे गोपियों को लिखित या कथित कोई भी संदेश सुनने में आपत्ति नही, आपत्ति है प्रिय के बिना रहने मे ! सगुण के स्थान पर निर्गुण का विकल्प उनमें अन्तर्द्वन्द्व खड़ा कर देता है। उन्हे लगता है कि यह केवल सगुण-निर्गुण में से एक को चुनने का ही प्रश्न नही है, दूसरे विकल्प भी इसके साथ है। ये हैं भक्तियोग या हठयोग, शास्त्रीय विधान या अनुभव शाश्वत् मुक्ति या पलपल सुलगती रहने वाली विरहानुभूतियाँ, तर्क

या रुचि। गोपियाँ जो कुछ कहती हैं उसमें तर्क का जवाब तर्क से यद्यपि दिया गया है, परन्तु उनके सारे तर्क सम्बन्ध-भावना पर निर्भर करते हैं। निर्गुण को अस्वीकारने में उनका सबसे बड़ा तर्क यह है कि वह अबलाओं के लिए कठिन और अव्यावहारिक है। परन्तु वे इतनी सीधी भी नहीं कि आसानी से अपनी हीनता स्वीकार कर अपनी साधना को हीन प्रमाणित कर दें। वे निर्गुण के कमजोर पक्ष को अच्छी तरह जानती हैं और उस पर जमकर प्रहार करती हैं, *यह पक्ष है कुब्जा। वे विश्वास करती हैं कि* हठयोग की आड़ में कुब्जा ही तीर चला रही है, और इस लिए भ्रमर की ओट में वे उस पर भी जमकर तीर चलाएँगी। भ्रमरगीत में उद्धव की प्रतिपक्षीय मानयवता यह है कि 'निर्गुण' ही मनुष्य को (१) आशंकाओं से मुक्त रख सकता है (२) उसके पाने के दो साधन हैं समाधि और तत्व ज्ञान (३) मायाममता व्यर्थ है तत्वज्ञान के पारसमणि को छूकर, मनुष्य लोहे से सोना बना सकता है। (४) निर्गुण व्यापक है और वह तत्वज्ञान के द्वारा अपने ही भीतर उपलब्ध है (५) पूर्णब्रह्म का ध्यान ही वास्तविक मुक्ति है। (६) ब्रह्म सब ठौर का वासी है, और उसे आभ्यन्तर साधना में देखा और पाया जा सकता है। संक्षिप्तरूप में ब्रह्मसाध्य है, उसके साधन हैं समाधि और तत्वज्ञान, परन्तु उसके लिए सगुण का परित्याग एक अनिवार्य शर्त है। उद्धव के ये विचार परम्परा से प्रतिबद्ध हैं, और भागवत से प्रमाणित भी। यह स्पष्ट नहीं है कि उद्धव समाधि का क्या अर्थ करते हैं। अधिकतर अनुमान यही है कि समाधि से उनका अभिप्राय हठयोग से है। भागवत में ज्ञानयोग है और ब्रह्मवैवर्त में तंत्रयोग। सूर की प्रेमाभक्ति इन दोनों के विरुद्ध है। उद्धव के उपदेश की जो बात सबसे अधिक खटकने वाली है, वह है 'निर्गुण के लिए सगुण का सर्वथा त्याग' उद्धव के हर वचन का प्रतिवचन गोपियाँ उसी तारतम्य में देती हैं, और अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से। पहले, उनकी प्रतिक्रिया भावना के स्तर पर होती है, बुद्धि के स्तर पर नहीं। जैसे प्रिय का पत्र पाकर रोने-धोने लगना, और प्रिय की निष्ठुरता की दुहाई देना, कुब्जा को दाल में काला समझना आदि। दूसरे प्रतिवचन में वह अधिक स्थिर और सबल तर्क देती हैं। उनका तर्क है कि हठयोग, अबलाओं के लिए, शारीरिक गठन और मानसिक दृष्टि से कठिन है। वे विश्वास ही नहीं करतीं है कि उद्धव कृष्ण के मित्र हो सकते हैं। वे उन्हें विवेकहीन समझती हैं। प्रिय की जो मूरत उनके मन में हैं; उसे वे नहीं हटा सकतीं और न 'हठयोग' की बात सुनकर अपने प्रेम को लज्जित कर सकती हैं। यह अपनी-अपनी प्रकृति का प्रश्न है। प्रकृति जो जाके 'अंग परी' हठयोग एवं ज्ञानयोग के प्रचारकों की नियति यदि यही है कि अपने स्वभाव से बाज नहीं आना, ठीक वैसे ही जैसे कौआ अभक्ष्य भक्षण से या सांप काटने से बाज नहीं आता, तो गोपियाँ भी अपनी प्रकृति से कैसे मुड़ सकती हैं। तीसरे प्रतिवचन में वे लोहे से सोना बनना अस्वीकार कर देती हैं। वे अनुभव करती हैं कि कृष्ण के प्रति उनके प्रेम में कमी नहीं आती। वे श्याम-प्रेम में पगी हुई हैं और उनके साथ जीभर कर खेल चुकी हैं। वे लोहे से सोना बनकर यह आकर्षण और उमंग नहीं खोना चाहतीं, भले ही वह सोना चमकते हुए बारह सूर्यों के समान हो—

सनी सनेह स्याम सुन्दर सौं हिलि मिलि कै मनमानि
सोहन लोह परसि पारस को ज्यौं सुवरन वर वानि
पुनि वह कहा चारु चुम्बक सौं लटपटाइ लपटानि

वे प्रिय का व्यवहार समझ नहीं पातीं—

तव हम सव दही के कारन
घर घर वहुत खिजायौ
सो अव सूर प्रगट ही लाग्यौं
योग ऽ रू ज्ञान पठायौ

यदि गोपियों की नियति में 'हठयोग' ही था, तो कृष्ण व्रज में आए ही क्यों—

वरुमाधो मधुवन ही रहते कल जसुदा के जाए

चौथे प्रतिवचन में वे उद्धव को वोलने की छूट भी देती हैं और उसे अनुभवहीन भी वताती हैं—

प्रेम कथा सोई पै जाने जापै वीती होइ
तूँ नीरस एली कहे जाने वकि देखिए लोइ

अन्त में उनका कहना है, कि इतना ऊँचा उपदेश देना वहाँ उचित होगा, जहाँ इसके ग्राहक हों। वे वताती हैं कि उनकी आँखें दुखी और जिद्दी हैं। अपने आगे वे किसी की नहीं चलने देती। गोपियाँ यह खुला आरोप लगाती हैं कि हठयोग का तथा कथित उपदेश, व्रजवासियों की सामूहिक हत्या का षड्यंत्र है, और इसके रचयिता हैं उद्धव और अक्रूर। मथुरावासियों के प्रति उनका अविश्वास अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। जहाँ तक शुद्ध सिद्धान्त का प्रश्न है, गोपियाँ हठयोग का विरोध इसलिए करतीं हैं क्योंकि वह प्रेमाभक्ति का विरोधी है—

प्रेमाभक्ति रहित नीरस जोग कहा गायौ

प्रिय-मिलन की आशा को हमेशा के लिए समाप्त कर देने का दूसरा नाम ही हठयोग है ! हठयोग प्रेम का विरोध करना छोड़ दे, तो गोपियाँ उसका विरोध करना छोड़ सकती हैं। अपने पाँचवें प्रतिवचन में गोपियाँ अधिक आवेश में आ जाती हैं। उद्धव के शाब्दिक आघातों से वे काफी आहत हो चुकती है, तभी यह स्थिति उत्पन्न होती है। हठयोग की वात सुनने से, वे 'काशी करवट लेना' अच्छा समझती हैं। उद्धव जिसे मजाक समझते हैं, उसी से गोपियों के प्राणों पर वन आती है—

या जीवन तें मरन भलौ है करवट लैहैं काशी

गोपियाँ निर्गुण को इस लिए भी अस्वीकारती हैं, क्योंकि वह उनके मन, बुद्धि और क्षमता, तीनों के परे है और वह उनके प्रेम को ही छीनना चाहता है।

गोपियाँ जो कुछ भी कहती है वह मार्मिक और अर्थगर्भित है। 'हठयोग' उनके सम्मुख, प्रिय के अभाव में एक विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस पर उनका कथन है कि प्रिय का अभाव प्रेम का अभाव नहीं है, इसलिए निर्गुण के विकल्प को अंगीकार करने का प्रश्न ही उनके सम्मुख नहीं है। उनके प्रेम की एक-

रसता, प्रिय के अभाव में भी ज्यों की त्यों है—

> प्रेमवृच्छ पर चारि सदा फर निर्भय अमित अडोल
> सुमिरन ध्यान आस छाया करि

प्रिय न सही, प्रेम की छाया में, वे निर्भयता, स्थिरता और एकनिष्ठा से रह रही हैं, और अब उन्हें तीसरी छाया की आवश्यकता नहीं । उद्धव के उपदेश को वे एक सन्निपात के रोगी के प्रलाप से अधिक महत्व नहीं देतीं । यदि ऐसा नहीं है तो यह कैसे संभव था कि—

> हम विरहिनी श्यामसुन्दर की, तुम निरगुनहिं बतावत

जो आदमी अपनी ही असाध्य बीमारी का इलाज नहीं कर सकता वह दूसरों की कठिनाइयों को क्या दूर करेगा । उद्धव का उपदेश उनमें मरघट का डर उत्पन्न करता है—

> हम लो जरि भस्समई तुम आनि मसान जगायौ

यह तो हुए दोनों पक्षों के तर्क और प्रतितर्क । परन्तु गोपियाँ अपने प्रतितर्कों से उतना प्रभावित नहीं करतीं, जितना कि अपने व्यक्तित्व, शैली और मर्मस्पर्शी उक्तियों से ! वे तर्क के लिए तर्क नहीं करतीं, वरन् उसके माध्यम से अपनी साधनागत अनुभूतियों का निष्कर्ष उद्धव के सम्मुख रखती हैं । एक भोगा हुआ यथार्थ उनके पास है और इसी के बूते पर अपनी बात कहती हैं । किसी चीज को स्वीकारने या अस्वीकारने के पहले, वे उसका विश्लेषण करती हैं और जानना चाहती हैं कि वह कहाँ तक उनके काम आ सकती हैं । जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, वे 'सगुण-निर्गुण' में दार्शनिक अभेद स्वीकारती हैं । परन्तु उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि संयोग की मुक्त पृष्ठभूमि के बाद निर्गुण-साधना उन पर लादी जा रही है, जिसे वे अस्वीकार करने के लिए बाध्य हैं । एक साधना में रंग जाने के बाद दूसरी साधना को अंगीकार कर सकना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यन्त कठिन है । गोपियां जनसाधारण हैं और जनसाधारण के लिए खासकर अबलाओं के लिए निर्गुण साधना किसी काम की नहीं, तत्वज्ञान और समाधि विशिष्ट लोगों के लिए है, साधारण लोगों के लिये नहीं । जनसाधारण के लिए एक तो निर्गुण किसी काम का नहीं, दूसरे उसे पाने की साधना भी उनके लिये दुस्सह और जटिल है—

> निर्गुन कौन देस को बासी
> मधुकर केहि समुझाइ सोइ दै बूझति साँच न हाँसी

गोपियां प्रत्यक्ष प्रमाण में विश्वास रखती हैं । यदि निर्गुण हृदय के भीतर है तो निकलकर बाहर क्यों नहीं आता—

> जौ पै हिरदै मांझ हरि
> तौ कहि इती अवज्ञा उन पै कैसे सही परी

प्रश्न गोपियों के लिए ससीम निःसीम का नहीं, तात्कालिक आवश्यकता की

पूर्ति का हैं । प्यास बुझाने के लिए जिसे एक बूंद पानी चाहिए समुद्र उसके किस काम का—

पियासे प्रानजाल जलबिन्दु तिहिं सुधा समुद्र बतावत
हम विरहिनी स्याम सुन्दर की तुम निरगुनहिं बतावत

जहाँ तक निर्गुण को पाने की साधना का प्रश्न है—तत्वज्ञान और हठयोग दोनों ही साधनाएँ गोपियों की प्रवृत्ति, परिस्थिति और अभ्यास के विरुद्ध हैं । यह वेद-पुराण से भी समर्थित है । वे इन साधनाओं को बुरा नहीं बतातीं । वे इतना ही कहती हैं— योग उनके काम का नहीं । 'योग' अप्राप्य के पाने का साधन है । गोपियों की समस्या दूसरी है । उनका प्राप्य खो गया है । उद्धव का उपदेश, उसे ढूंढ़ने में सहायता करने के बजाय, दूसरे विकल्प उनके सामने रखता है । यह विकल्प है 'निर्गुण'। गोपियों का सबसे बड़ा तर्क यह है कि वे तत्वज्ञान और हठयोग की उन सारी भूमिकाओं को पार कर चुकी है जिनका उद्धव उपदेश करना चाह रहे हैं—

हम तौं तबहिं जोगलियौ
जबहीं तैं मधुकर मधुवन कौं मोहन गौन कियौ

भोगवृत्ति उन्हें भूलकर भी अच्छी नहीं लगती—

भोग भुगति भूलै नहीं भावति भरी विरह-वैराग्य

उन्हें योग के उपयोग भी नहीं मालूम—

उद्धव योग कहा कीजतु
ओढ़ियत है कि विछयत है किधौं खैयत है किधौं पीजतु

हठयोग से प्राप्त साध्य जीवन के किसी काम का नहीं । वह अमूर्त है, और काल्पनिक है, मन के लड्डुओं से किसी का पेट नहीं भरता—

काकी भूख गई मनलाडू सो देखहु चित चेत

यथार्थ की समस्याओं का समाधान काल्पनिक आदर्श नहीं कर सकता । फिर उद्धव द्वारा प्रतिपादित साध्य-साधन से गोपियाँ अपरिचित हैं । अपरिचित से परिचय करने में उन्हें आपत्ति नहीं । पर प्रश्न यह है कि वह उनके किस काम का । काम का भी हो तो वह उनकी पहुँच के परे है । पहुँच के भी भीतर हो तो निर्गुण से सुख की आशा करना, पानी बिलोकर मक्खन पाने की आशा करना है । सिद्धान्त में सगुण-निर्गुण एक हैं, फिर भी गोपियाँ सगुण के प्रति अर्पित हैं— "ए दोऊ लोचन विराट के—

स्तुति कहै एक समान
भेद चकोर कियों ताहू में विधु प्रीतम रिपुभाग

वेद मानते है कि सूर्य और चन्द्र, परमात्मा की दो आँखे हैं, 'फिर भी चकोर चन्द्रमा से प्यार करता हैं और सूर्य से घृणा । विशेषभाव या भेदीकरण प्रेम की विशेषता है । गोपियाँ भी इसलिए सगुण से ही प्रेम कर सकती हैं । उद्धव के दौत्य को वह एक षड्यंत्र समझती हैं, उनका यह भी विश्वास है कि उद्धव श्याम के मित्र नहीं हैं ।

वह प्रेम से कोरे हैं और हैं कुब्जा के हाथ का खिलौना। यदि यह सब नहीं हैं तो उन्हें हठयोग और प्रेमयोग में अन्तर समझना चाहिए—

कहाँ रास रस कहाँ जोगधार, इतनो अन्तर भासत

या यह कि—

प्रेमकथा सोई पै जानै जा पै बीती होई

गोपियों के विचार में उद्धव या तो किसी असाध्यरोग से पीड़ित हैं या फिर पागल हैं। दोनों स्थितियों में वह सामान्य स्थिति में नहीं हैं। उद्धव कुब्जा से प्रति-बद्ध हैं और वह सच्चे मध्यस्थ भी नहीं हैं। वह उस आधारभूत सचाई का गला घोंट रहे हैं जिस पर मध्यस्थता खड़ी है—

बीच जो परे सत्य सो भाषै बोले सत्य स्वरूप
मुख देखौ कों न्याउ न कीजै कहों रंक कह भूप

दैत्य, इसलिए उद्धव के लिए बहाना है। उनका असली उद्देश्य है— गोपियों को पीड़ा देना।

गोपियों की सबसे तीखी और हृदय को छूने वाली उक्तियाँ वे हैं जिनमें वे अपनी स्थिति का निवेदन करती हैं—

"मधुप कहा कियौ अब चाहत ?
हम तो भई चित्र की पुतरी सुन्न सरी रहिं दाहत

उनका अनुरोध है कि उद्धव हठयोग का जहर उन्हें न खिलाएँ—

तुमलैं होय त्यों होय
सूर सपथ हमें कोटि तिहारी कही करैंगी सोई

उद्धव के उपदेश उनके विचार में विरह की आग भड़काने के लिए हैं—

बुझी आग बहुरै सुलगाई अन्तरगति विरहानल जारत,

प्रिय के मिलने और न मिलने की दोनों स्थितियों में वे अपनी फलप्राप्ति सम-झती हैं—

हम तौ दुह भाँति फल पायौ
जौ गोपाल मिलैं लो नीकौ नातरु जगत जस गायौं
कहँ हम गोकुल की गोपी बरनहीन घट जाति
कहँ वै श्री कमला के वल्लभ मिलि बैठीं इकपलि
निगमज्ञान मुनिध्यान अगोचर ते भये घोष निवासी
ता ऊपर अब कहौ देसिधौं मुक्ति कौन की दासी

उद्धव का उपदेश सुनकर गोपियों की स्थिति यह है कि वे न तो मर सकती हैं न जी सकती हैं। उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि गोपी भाव को वे किस प्रकार बनाए रखें—

"ऊधौ अब दोऊ कठिन परी
जो जीवै तौ मुनिजड़ज्ञानी तन, तजि रूप हरी

गुन गावैं तो सुक सनादिक लीला गाई फिरी
आशा अवधि विचारि रहैं तो धरम न ब्रजसुन्दरी
सखी मंडली सब जु सयानी विरह प्रेम भरी

प्रिय की स्वैरवृत्ति पर वह तीव्र प्रहार करती हैं—

ऊधौ हरि काहे कै अन्तरयामी
अजहूँ आई मिलन इहि अवसर अवधि बनावत लामी
अपनी चोप आई उठि वैठत अलि ज्यो रस के कामी

प्रिय के वियोग में दो दुःख उनके जीवनसाथी बन चुके हैं—

दोउ दुःख परैं संघ्रातै
तनरिपु काम, चित्तरिपुलीला, ज्ञानगम्य नहिं लालैं

यह निश्चित है कि 'ज्ञानयोग' के लिए ये दोनों ही दुख अगम्य हैं। फिर उनका यह नाटकीय प्रस्ताव है—

चन्दन अभरन चीर चारु वर नैकु आयु तन कीजै
दंड कमंडल भसिम अधारी तब जुबतिन को दीजै

उद्धव पर इसकी सीधी और गहरी प्रतिक्रिया है—

सूर देखि दृढ़ता गोपिन की ऊधौ दृढ़व्रत पायो
करी कृपा जदुनाथ मधु पै प्रेमहिं पढ़न पठायौ

फिर गोपियाँ नहले पर दहला जड़ती हैं—

ऊधौ मन नहिं हाथ हमारैं
रथ चढ़ाइ हरि संग गए लै मथुरा जबहिं सिधारैं
नातरु करा जोग हम छाड़िहैं अतिरुचि के तुम लाए
अजहूँ मन अपनौ हम पावैं तुम लैं होय लो होइ

वह अपना यह विश्वास दुहराती हैं कि यह उपदेश उनके प्रिय का नहीं है, और यदि है तो निश्चय ही उन्होंने उस प्रेमनग को खो दिया है, जो हमारे सम्बन्धों का एकमात्र आधार था—

मधुकर यह निस्चै हम जानी
खोयो गयौ नेह नग उनपैं प्रीति कायरी भई पुरानी
पहले अधर सुधारस सींचै कियौ पोष वहु लाड़ लड़ानी
वहुरो खेल कियौ सिसु कैसौ गृह रचना ज्यों चलत पिछानी

फिर वे अभिनयमुद्रा बनाती हैं, हठयोग की भूमिका बनाती हैं। आँखें बन्द हैं, पर प्रिय नहीं दिखता। उनके बाद वे प्रेमसागर मे मग्न हैं। इतनी मग्न कि देखकर मधुकर चकित है —

षट्पद कही सोऊ कर देखो हाथ कछु नहिं आई
सुन्दर श्याम कमल दल लोचन नैकु न होत दिखाई
फिर भई मगन प्रेमसागर में काहू सुधि न रही
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन भयौ

गोपियों के लिए अब दूसरा चारा नहीं, सिवाय इसके कि वे अपने मार्ग पर चलती चलीं जाँय—

अब मेरे मन ऐसी षड्पद होनी होय सौ होय
तब कत रास रच्यौ वृन्दावन जौ पै ज्ञान हुतो ऊ

एक वार व्रज आने में उनका क्या विगड़ता ? कम-से-कम व्रज के लोगों का तरसना मिट जाता, वचपन के प्रेम का इस प्रकार टूटना भी सम्भव नहीं, उसकी लीलाओं की एक अन्तरंग अनुभूति ही शेष वची है—

लरकाई कौ प्रेम कहौ अलि कैसै छूटत
कहा कहौं व्रजनाथ चरित अन्तरगति लूटत

यह भावात्मक 'कोप' स्वीकार करके भी जैसे को तैसा उत्तर देने से गोपियाँ नहीं चूकतीं । वे उद्धव से कहतीं है—बदलै को बदलो ले जाइ उनकी एक हमारी व्है

तुम बड़े जवैया आहु तुम अलि जानि हमहि अलिभोरी
सारौ चाहत दाउ

यह तुलनीय है गोपियों के उस प्रारम्भिक संकल्प से, जिसमें गोपियाँ कहती हैं वे वैसा ही उत्तर देंगी जैसा प्रश्न उठाया जायगा । उद्धव का यदि एक प्रश्न है तो गोपियाँ उसके दो उत्तर देती हैं । उनकी दृढ़ता का मुख्य कारण है कि वे चारों मुक्तियां पा चुकी हैं—

सेवन सुलभ स्यामसुन्दर कौं मुक्ति लही हम चारी
हम सालोक्य सरूप सायुज्यै रहति समीप सदाई
सो तजि कहत और की और तुम जली बड़े अदाई
हम मूरख तुम बड़े चतुर हो बहुत कहा अब कहिए

गोपियाँ समझती हैं कि उद्धव का असली उद्देश्य है उन्हें प्रेमाभक्ति से वंचित करना, उनकी इसमें बहुत कम दिलचस्पी है कि गोपियाँ निर्गुण को स्वीकार ही लें । पर गोपियों के लिए यह संभव नहीं । क्योंकि हरिरस को वे ही पहचानती है । गोपियों की आँखों में वह दृश्य घूम जाता है जिसमें वृन्दावन के रगमंच पर श्याम नट का वेश काँछते हैं । रासक्रीड़ा हो रही है, कभी श्याम और कभी गोपियां बीच में दिखाई दे रही हैं । भ्रमर आता है यह दृश्य देखकर उसका मस्तक झुक जाता है । वह प्रेमाभक्ति में दीक्षित हो रहा है । कवि को विश्वास है कि भ्रमर की तरह उसके पाठक भी हरि-भक्ति में दीक्षित होंगे— भँवरगीत जो दिन दिन गावै

परस भक्ति सो हरि को पावै
नूर जोग की कथा न भाई
श्याम भक्ति गोपीजन गाई

गोपियों का प्रयास, उद्धव के लक्ष्य से ठीक उल्टा है । वे इस वात में दिलचस्पी रखती है कि उद्धव को किस प्रकार प्रेमाभक्ति में दीक्षित किया जाय । निर्गुण के प्रत्याख्यान में उनकी कोई रुचि नहीं । हठयोग ही नहीं, वे अपने प्रिय को पाने के

लिए, भारतीय साधना के दूसरे विकल्पों को भी अस्वीकार कर देती हैं। वे न तो दार्शनिक बनना चाहती हैं और न ज्ञानी। वे न मुनि बनना पसन्द करती हैं और न अपने को उन भक्त गायकों की कोटि में रखना चाहती हैं जिसमें सनकादि आचार्यों की गिनती होती है। वे आशा पर जीवित रहने वाली धार्मिकाएँ भी नहीं है। वे यदि कुछ हैं तो व्रजसुन्दरी हैं, जो प्रेम की विरह वेदना से भरी हुई हैं, इस वेदना का सम्पूर्ण मानसिक प्रत्यक्षीकरण ही कवि का मुख्यतम प्रतिपाद्य है

भ्रमरगीत में गोपियो की प्रेमाभक्ति भौतिक और मानसिक प्रक्रिया में से होकर आध्यात्मिक भूमिका में प्रवेश करती है। उनके सम्मुख दो अन्तर्विरोध प्रस्तावित हैं एक हठयोग और दूसरा ज्ञानयोग। इन अन्तर्विरोधों का यही महत्व है कि गोपियां आध्यात्मिक दृष्टि से भी अपनी स्थापनाऐ सिद्ध कर सकें। यह लक्ष्य आरंभिक स्थिति में ही वे स्पष्ट कर देती है कि किसी भी स्थिति में वे अपना साध्य या साधन नहीं छोड़ सकती, क्योंकि यह मात्र उनकी प्रस्तावित अन्तर्विरोधों को स्वीकार करने के पूर्व, वे प्रिय के साथ एक सुन्दर क्रीड़ामय अतीत भोग चुकती हैं और उनके मानस में प्रिय की मधुरतम मूर्ति अंकित है जिसके इर्दगिर्द सुन्दर स्मृतियाँ मँड़राती रहती हैं। अतः उनके लिए नए प्रस्ताव को स्वीकार करने का प्रश्न ही नही उठता? 'समाधि' से मिलने वाली मुक्ति या मुक्ति की समाधि में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं। साधना के सक्रिय जीवन की अपेक्षा, मुक्ति का निष्क्रिय जीवन उन्हें कतई पसन्द नहीं। मुक्ति का स्वर्ण बनने के बजाय, वे साधना का लोहा बनना पसन्द करती हैं, कम से कम इसमें अस्तित्व का व्यक्तिगत चुम्बकीय आकर्षण बना रहता है जो स्वर्ण बनते ही समाप्त हो जाता है। वे बार-बार यह विश्वास दुहराती हैं कि प्रस्तावित विकल्प उनकी प्रकृति और क्षमता के विरुद्ध हैं। यदि उनकी नियति में हठयोग और प्रेमयोग ही था, तो प्रारंभ से ही इन्हीं की शिक्षा देनी थी। कृष्ण व्रज में आए ही क्यों—

बरु माधो मधुवन ही रहते कत जसुदा कै आए

वे उद्धव को सीमाहीन बोलने की छूट दे देती है क्योंकि वह अनुभूतिशून्य हैं। प्रेमकथा वही जान सकता है जिस पर वह बीती हो। उद्धव का उपदेश असंदिग्ध रूप से महान् है, परन्तु वह ऊँचे लोगों के लिए है, उन जैसी सामान्य जनता के लिए नहीं, विशेष रूप से उस स्थिति में और भी नहीं कि जब गोपियों ने उसे दूध दही के कारण घर घर खोजते देखा है। उन्हें प्रेमशून्य हठयोग की साधना का उपदेश सामूहिक रूप से सूली पर चढ़ने का उपदेश है जिसमे उनके अस्तित्व के साथ, प्रिय के मिलन की आशा ही सदा के लिए समाप्त हो जाय। प्रिय का अभाव, प्रेम का अभाव नहीं है वे प्रेम की मानसिक छाया से निर्भय हैं और उन्हे किन्हीं विकल्पों की आवश्यकता नहीं। उनकी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि प्रेम की मुक्त पृष्ठभूमि पर उन्हें नई साधना अंगीकार करने के लिए बाध्य किया जा रहा है, उसे वरण करने के लिए जो अपरिचित है, बल्कि यह है कि जो प्राप्त और मुक्त लक्ष्य खो गया है उसे पाना है, हठयोग खोए लक्ष्य को पाने का आश्वासन नहीं देता है बल्कि नए विकल्प को प्रस्तुत करता है इन विकल्पों में सगुण की उपलब्धि नहीं और निर्गुण उनके काम का नहीं। सगुण-निर्गुण

में एक होते हुए भी वे सगुण को ही प्रेम करती हैं। जिसकी उद्धव बात करते हैं वह गोपियों को प्रिय नहीं और यदि है तो उद्धव उसके सच्चे मित्र नहीं हैं। उद्धव असाध्य रोग से पीड़ित हैं या फिर कुब्जा के हाथ के खिलौना हैं। प्रिय के साथ वे चारों मुक्तियों का आनन्द भोग चुकी हैं, अतः मुक्तिकामना से अधिक वे गोपीभाव को बनाए रखना चाहती हैं। वह वेशभूषा-परिवर्तन का प्रस्ताव करती हैं और अपनी भावपन्न मुद्राओं से उद्धव को प्रभावित करती हैं। उन्हें यह विश्वास हो गया है कि उन्हें भविष्य को अपने सन्दर्भ में देखना होगा। क्योंकि उद्धव के उपदेश उन्हें साधना से विचलित करने के लिए हैं। भारतीय साधना के ऐसे किसी भी विकल्प को अस्वीकार कर देती हैं वे, जिसमें प्रेम की विरह वेदना से उज्ज्वल उनका व्रजसुन्दरी रूप न उभरता हो। रूपकों की भाषा में वे अपने इसी निश्चय को मूर्त करती हैं, संयोग के स्मृतिचित्रों में अपनी साधना के साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं और कुब्जा के सन्दर्भ में अनन्यता और दृढ़ता प्रतिपादित करती हैं। दुनियाँ का बड़े से बड़े तर्क उनकी इस बात का उत्तर नहीं दे सकता —

जन्मभूमि व्रज सखी राधिका कोहि अपराध तजि
अतिकुलीन गुनरूप अमित सुख दासी जाइ भजी

कुब्जावाद

भ्रमरगीत वियोग का वह मुहाना है जिसमें सूरकाव्य की भाव-चेतना बहुमुखी हो उठती है। उसकी अधिकांश प्रतिक्रियाओं, अभिव्यक्तियों और उत्तेजक स्थितियों के मूल में कुब्जा है। व्यंग्य यदि काव्य की आत्मा है और वह भ्रमरगीत में है, तो उस व्यंग्य की आत्मा कुब्जा है। कुब्जा का चरित्र, भ्रमरगीत में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बिल्कुल भी सक्रिय नहीं, फिर भी गोपियों की भावचेतना में ज्वार-भाटा उसी के कारण आता है। इसमें संदेह नहीं कि यदि कुब्जा न होती, तो गोपियाँ उस सबसे वंचित रहतीं, जो उन्हें भ्रमरगीत में उपलब्ध हो सका।

कुब्जा से उनका पहला अप्रत्यक्ष परिचय तब होता है जब मथुरा से लौटकर एक ग्वाल बालक, कृष्ण-कुब्जा के प्रणय की सूचना देता है, और इसकी सम्पुष्टि करता है स्वयं कुब्जा का पत्र जो वह उद्धव के द्वारा भेजती है। कुब्जा का यह पत्र, अभियोग पत्र से अधिक कृपायाचना का पत्र है। कुब्जा अपना हल्कापन स्वीकार करती है, लेकिन कुब्जा की गलती यह है कि उसने पत्र भेजने का समय ठीक नहीं चुना। गोपियों को लगता है कि उनकी असफलता का एक मात्र कारण कुब्जा है। हृदय में दबी हुई ईर्ष्या का एक आलम्बन उन्हें मिल जाता है और वे उसके आवेग में बहने लगती हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत की भाव-चेतना को सक्रिय रखने का वह श्रेय कुब्जा को मिल जाता है, जो उसे मिलना ही था। गोपियाँ अनुभव करती हैं कि कुब्जा उनके प्रेम की प्रतियोगिनी है और जब हठयोग की आड़ में अपना काम बनाना चाहती है। उनकी पहली प्रतिक्रिया है—

हरि आगे कुब्जा अधिकारिनी को जीवै इहि दाप

कुब्जा के इस दर्प के आगे गोपियाँ कैसे जीवित रह सकती हैं। भ्रमर के आने

पर वे पूछ बैठती हैं—

पूंछन लागी ताहि गोपिका कुबिजा तोहि पठायौ
कीधौं सूर स्याम सुन्दर कौं हमें संदेसौं लायौ

संदेह की इसी पृष्ठभूमि पर उद्धव और गोपियों का वाद-विवाद प्रारम्भ होता है। गोपियों को जब अवसर मिलता है वे तर्क का उत्तर तर्क से न देकर, इस दुर्बलता पर प्रहार करके देती हैं—

तुम जु कहत सुनत हैं गोविन्द सुनियत कुबिजा उन छेरी
दोऊ मिले तैसेई वैसे वे अहीर वह कंस की चेरी
तुम सारिखे वसीठ पढाए कहए कहा बुद्धि उन केरी

हठ्योग-साधना एक ही प्रकार की हो सकती है, चाहे वह मथुरा में हो या ब्रज में। फिर उसके दो चेहरे कैसे ? एक कुब्जा के लिए दूसरा गोपियों के लिये। मधुवन के लोगों का धर्मात्मा होने का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि—

हाँ दासी रति की कीरत कै इहाँ जोग विस्तारे

गोपियों के इस विश्वास को बदलना कठिन ही नहीं असंभव है कि ब्रज पर अब उग्रसेन का नहीं, कुब्जा का शासन है—

मधुकर उनकी बात हम जानी
कोऊ हती कंस की दासी कृपा करी भई रानी
कुबिजा नाऊँ मधुपुरी बैठी लै सुबास मन मानी
कुटिल कुचाल जन्म की टेढ़ी सुन्दरि करि घर आनी
अब वह नवल वधू ह्वै बैठी ब्रज की कहत कहानी
सूर स्याम अब कैसे पैये जिनसौं मिली सयानी

गोपियों के विचार से श्याम ने दो राज्यों की स्थापना की है। एक है उग्रसेन राज्य और दूसरा है कुब्जा राज्य, जिसका शासित प्रदेश है 'ब्रज'। गोपियाँ चाहती हैं कि राजा अपनी रानी को साथ लेकर आएँ, और अपनी जनता को दर्शन दें—

कहियौ ठकुराइति हम जानी
अब दिन चारि चलहु गोकुल में सेवहु आइ वहुरि रजधानी
हमकों हौंस बहुत देखन की संग लियें कुबिजा पटरानी
यहु नहि ब्रज कौ दधि माखन बड़ौ पलँग अरु तातो पानी

और इसी परिप्रेक्ष्य में वह आश्वासन देती हैं कि ब्रज में आने से उन्हें घबराने की आवश्यकता नहीं—

तुम जनि डरौ ऊखल तो तौर्यौ दांवरिहू अब नई पुरानी
वह बल कहाँ जसुमति के कर देह दावरै सोच बुढ़ानी
मुरली वाँहि दई ग्वालिनी कौ मोर चन्द्रिका सबै उड़ानी

ब्रजवासियों के लिये न सही, तो यशोदा, नन्द और राधा के लिये आना ही चाहिये—सूर नन्द जू कै पालागौं देखहु आई राधिका रानी

इससे स्पष्ट है कि कुब्जा राधा की प्रतियोगिनी है। फिर वे मन की खीज को

दूसरे रूप में रखती हैं—

बरु उन कुबिजा भलौ कियौ
सुनि सुनि ये समाचार मधुकर अधिक जुड़ात हियौ
जिनके तन मन प्रान रूप गुण हर्‌यौ सु फिरि न दियौ
तिन अपनौ मन हरत न जान्यौ हंसि हंसि लोग जियौ
सूर तनिक चन्दन चढ़ाइ उर श्रीपति बस जु कियौ
और सकल नागरि नारिनि कौं दासी दाउँ लियौ

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सचमुच वे कुब्जा की प्रशंसक हैं—

ऊधौ अब कछु कहत न आवै
सिर पर सौति हमारै कुबिजा चाम के दाम चलावै

वे बार बार दोनों के अनमेल संबंधों की बात दुहराती हैं—

ऊधौ जानी रे हम जानी
राजा भए तिहारे ठाकुर अरु कुबिजा पटरानी

इससे बढ़कर हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है—

सुनि सुनि ऊधौ आवति हाँसी
कहँ वै ब्रह्मादिक के ठाकुर कहाँ कंस की दासी

वे समझती हैं कि कुब्जा के कारण, कृष्ण व्रज नहीं आना चाहते—

तब हैं बहुरि दरस नहीं दीन्हौं
ऊधौ हरि मथुरा कुबिजा गृह वहै नेम व्रत लीन्हौं

उनकी सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे अपने को कुब्जानाथ क्यों नहीं कहते, गोपीनाथ नाम क्यों रख छोड़ा है—

काहै कौं गोपीनाथ कहावत
जो मधुकर स्याम हमारे क्यौं न इहाँ लौं आवत
सपने की पहिचानि मानि जिय हमहिं कलंक लगावत

यह उसी का षड्यंत्र है—

कुबिजा जहाँ होइ पटरानी तुमसे होहिं वजीर
सूरदास व्रज जुवतिनि ऊपर क्यौं न करौ उपचीर

उनका पक्का विश्वास है कि कुब्जा ने उन्हें भेजा है :—

काहे कौं रोकत मारग सीधौ
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तैं राजपन्थ क्यों रूँधौ
कै तुम सिखि पठए हौ कुबिजा कह्यौ स्यामघन हूँ धौं

गोपियाँ उद्धव के शब्दों में ही उद्धव को जवाब दे रही हैं :—

"पूछति हैं तैं बावरी
गोकुल तज्यौ कूबरी कारन नेह न होत रावरी
वै तौ कुबिजा असुर की दासी हम जु सुहागिन रावरी

सूरदास प्रभु पारस परसैं लौहौ कनक—बराबरी

उन्हें अपनी एकाधिकार भावना का पूरा एहसास है—

लै आवौ हम कछू न कैहैं मिलिहैं प्रान प्यारै
ब्याहौं बीस धरौ दस कुबिजा अन्तहु स्याम हमारे

कुब्जा प्रिय को सिखाती है और वह उद्धव को सिखाकर भेजते हैं —

कुबिजा सौं पढ़ि तुमहिं पढ़ाए
अब जोई पद देहिं कृपा करि सोई हम करें सई
जो पै कृष्ण कूबरी रीझे सोइ किन बिरद बुलावत
ज्यौं गजराज काज के औरै औरे दसन दिखावत

फिर यह अपना-अपना भाग्य है —

ऊधौ जाके माथे भाग ?
कुबिजा को पटरानी कीन्हीं हमैं देत वैराग
लौंडी की डौंड़ी जग बाजी बढ़यौ स्याम अनुराग

वे स्वीकार करती हैं कि कुब्जा के कारण अब उनका जीना दूभर हो गया है—

रीझै जाइ सुन्दरी कुबिजा, ईहि दुःख आवत हाँसी

उन्हें इस बात का पक्का विश्वास हो गया है कि —

मेरौ जिय यहै परेखौ आवै
सरबस लूटि हमारौ लीन्हौं रोज कूबरी पावै

वह मानती हैं कि परदेशी परदेशी ही होता है —

मधुप विराने लोग बढ़ाऊ
हम जोग भोग कुब्जा को उहि कुल यहै सुभाऊ

गोपियाँ जोग इसलिए स्वीकार नहीं करतीं —

ऊधौ जोग किधौं यह हांसी
कीन्हीं प्रीति हमारे व्रज सौं दई प्रेम की फांसी
तुम हौ बड़े जोग के पालक संग लिए कुविजा सी
सूर सोई पै जानै जा उर लागै गाँसी

उनका यह भी विश्वास है कि कंस का वध उन्होंने कुब्जा के लिए किया है—

मारौ कंस काज कुबिजा के सूर कहावत भाटे ?

कुब्जा के प्रति गोपियों के इस आक्रोश का आखिर क्या कारण है ? वस्तुतः यह गोपियों का नहीं प्रेमाभक्ति का स्वभाव है। प्रेम में दो दुर्बलतायें है ईर्ष्या और आशंका। प्रेमाभक्ति की प्रतीक है गोपियां और वे किसी-न-किसी कारण को लेकर, ईर्ष्या एवं आशंका करती रही हैं। मुरलिया-प्रसंग में स्वयं मुरलिया उनकी ईर्ष्या की आलम्बन बनती है। गोपियां उस पर सौत तक का आरोप करने से नहीं चूकतीं, जो एक हद तक अस्वाभाविक है। कुब्जा उनकी आध्यात्मिक प्रतियोगिनी है।

दोनों में अन्तर यह है कि मुरलिया संयोग में ईर्ष्या का आलम्बन बनती है जब कि कुब्जा वियोग में। मुरलिया कोई प्रस्ताव नहीं रखती, जब कि कुब्जा पर आरोप है कि हठयोग का प्रस्ताव उसी की कूटनीति का परिणान है। मुरलिया के प्रति गोपियों की ईर्ष्या स्वभावगत है, परन्तु कुब्जा के प्रति विवशतागत परिस्थिति भिन्न होते हुए भी दोनों उनकी ईर्ष्या की आलम्बन समानरूप से बनती हैं, उनकी अभिव्यक्तियाँ भी बहुत कुछ मिलती जुलती हैं— जैसे— मुरलिया के लिए वे कहती हैं—**मुरलीपति क्यों न कहावत** और कुब्जा से—**काहे गोपीनाथ कहावत** मुरलिया से—**मुरली स्यामहू मूँड़ चढ़ाई** और कुब्जा से— **कोउ हुती कंस की दासी, कृपा करी भई रानी** मुरली से— **'मुरली स्यामहु और किधौं'** और कुब्जा पर तो वह आरोप है ही कि हठयोग कुब्जा के दिमाग की खुरापात है। इस प्रकार कुब्जा और मुरलिया के प्रतीक चित्रों में कितनी समानता है, यह कवि स्वयं स्वीकार करता है—

तब रस अधर लेत मुरली अब भई कुब्जा सौत

उद्धव जैसे ज्ञानी और प्रिय के सखा के तर्कों का उत्तर देना गोपियों के लिये कठिन था, विशेपकर उस रूप में जिस रूप में वे देती हैं, और भी कठिन था। परन्तु कुब्जा ने उनकी कठिनता दूर कर दी। कुब्जा न होती तो गोपियों की जात में संदेह था, और सूर के कवि को अपनी सफलता में। कुब्जा कवि की संदर्भ भंगिमा का सर्वोत्कृप्ट उदाहरण है।

संयोग के स्मृति-चित्र

शास्त्रीय संदर्भ में स्मृति संचारी भाव है जो वियोग में उद्दीपन का काम देता है, और यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि संयोग की सुखद स्मृतियाँ, विरह में दुःखद होती हैं। पर गोपियों के लिये ये संयोग के स्मृति चित्र मात्र चित्र नहीं वरन् उससे कुछ अधिक हैं? यद्यपि इन स्मृति चित्रों की संख्या पाँच सात ही है, फिर भी वे अतीत के विशिष्ट संस्मरणों को साकार करते है, उन संस्मरणों को जो उनके और प्रिय के मधुर सम्बन्धों के साक्ष्य हैं और जिन्हें गोपियाँ तर्क के समर्थन में साक्ष्य रूप में प्रस्तुत करती हैं।

सबसे पहला चित्र है पावस का, जिसमें श्याम मुरलिया बजा रहे है, चराचर सृष्टि उससे प्रभावित है। गायों के दांतों मे दवे तिनके उसी में अटक कर रह गए है। काल देवता के रथ के पहिए अवरुद्ध हैं। इस विश्व-विमुग्ध वातावरण में गोपियों के मन में प्रेम के आकर्षण का पहला अंकुर फूटा था, और वे कृष्ण के प्रति समर्पित हुई थीं—

इक दिन मुरली स्याम बजाई
मोहे सुर नर और सकल मुनि उनै बदरिया आई
जमुना प्रवाह थकित भयौ बच्छ न खीर पियाई

प्रेम की इस सामान्य पृष्ठभूमि के बाद वे चित्र प्रस्तुत करती हैं जिसमें अत्यन्त व्यक्तिगत सम्बन्ध अंकित हैं और जो इस तथ्य का साक्ष्य है कि उनका प्रेम किस सीमा

को पार कर चुका था—

एक द्यौस कुंजन में माई
नाना कुसुम लेई अपने कर दए मोंहि सो सुरति न जाई
इतने में घन गरज वृष्टि करी तनु भीज्यो मो भई जुड़ाई
कांपति देखि उड़ाइ पीत पट लै करुणामय कंठ लगाई

कुँजों की एकान्त छाया, में प्रिय का अपने हाथों रंग-बिरंगे फूल देना, बादल की रिमझिम फुहार से ऊदी गोपियों की सिहरन और प्रिय की करुणा कोर, वे रोमांचक घटनाएँ है जो दो प्रेमियों के हृदयों को जोड़ती ही नहीं वरन् उसे अविस्मरणीय बना देती है। गोपियों के प्रेम की यह ऐसी वास्तविक आधार भूमि है जिसे भूल जाना उस आधार को ही समाप्त कर देना है, जिस पर वे खड़ी हैं।

एक दूसरा चित्र है,—जिसमें किसी गोपी के साथ हुई श्याम की छेड़छाड़ का उल्लेख है—

या युवती के गोरस कौ हरि इक दिन बहुत अरे
ऊधौ वे बातें क्यों विसरति छाँड़ि न हठहिं परे
ता दिन कौं देखो यह अञ्चल ऐंचत ओप भरे
आपु सिखाइ सबहिनी कौं न्यारे रहे खरे
सो मूरति नैननि में लाग रही अँग अँग चपल रहे
सूर स्याम देखें सच पइए राखि संदेश धरे

इस चित्र द्वारा गोपियाँ उद्धव से कहना चाहती हैं कि आँखों में सौन्दर्य की जो चपल मूर्ति अंकित है, उसे देखे बिना क्या सत्य की उपलब्धि हो सकती है ? एक गोपी यहाँ राधा ही है। सूर विशेष गोपी और राधा में अन्तर नहीं करते। गोपियाँ लाख क्या, एक ही उपदेश सुनकर अपना मत परिवर्तन कर सकती थीं, यदि प्रिय के साथ भोगे हुए क्षण उन्हें याद न होते। उनके लिए समस्या मत-परिवर्तन की नहीं, हृदय-परिवर्तन की है। जीवन के भोगे हुए सत्य को छोड़कर, वे काल्पनिक सत्य को कैसे ग्रहण कर लें ? उस पर, यह वियोग-वेदना, भोगे हुए अतीत को साकार किए रहती हैं—

हरि बिछुरन की सूल न जाइ
बलि बलि जाऊँ मुखार बिन्द को वह मूरत चित रही समाइ
एक दिवस वृन्दावन महियाँ गहि अंचल मेरी लाज छुड़ाइ
कबहुँक रहसि देत आलिंगन कबहुँक दौरि बहोरत गाइ
वै दिन ऊधौ बिसरत नाहि अम्बर हरे जमुना तट जाइ
सूरदास स्वामी गुनसागर सुमरि सुमरि राधे पछताइ

एक स्मृति चित्र में वे गोपनीय संदर्भ का भी उल्लेख कर रही हैं, और ऐसा वे इसलिए करती हैं कि उद्धव वास्तविकता पहचान सकें—

गुप्तमते की बात कहौं जो कहो न काहू आगें
कै हम जानैं कै हरि तुम हूँ इतनी पावैं माँगें

एक बार खेलत वृन्दावन कंटक चुभि गयौ पाइँ
केतक सौं कंटक लै काढ़यौ अपने हाथ सुभाइ
एक दिवस बिहरत बन भीतर मैं जु सुनाई भूख
पाके फल वे देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रूख
ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसतैं गोकुलवास
सूरदास प्रभु सब बिसराइ मधुवन कियौ निवास

प्रिय के गोकुल-वास की स्मृतियां केवल वेदना की ज्वाला ही नहीं जगातीं, वरन् उद्धव के सम्मुख गोपियों के प्रेम की गहराइयों के सबूत पेश करती हैं—

ऊधौ खरी जरी हरि सूलन की
कुंज कलोल किए बन ही बन सुधि बिसरी उन फूलन की
तब हौं लागि अंक भरि लीनी देख छाँह नव फूलन की
अब छवि छाकौं हैं अतिलोचन बाहैं गहि गहि झूलन की
खरकति है वह सूर हिए में माल दई मोहि फूलन की

ये सारे स्मृतिचित्र उद्धव को बताने में, गोपियों की मात्र आशा है कि वे अवश्य अपनी जिद से बाज आएँगे, और समझ सकेंगे कि प्रेम की इतनी गहराइयों में उतरने के बाद, प्रेम से मुड़ना असंभव है—

ऊधौ क्यों बिसरत वह नेह
हमरे हृदय आनि नंद नंदन रचि रचि कीन्हें भेइ
एक दिवस गई गाइ दुहावन वहाँ जु बरख्यौ मेह
लिए उठाइ कामरी मोहन निज करि मानो देह
अब हमकौं लिखि लिखि पठवत है जोग जुगति तुम लेहु
सूरदास विरहिनी क्यों जीवैं कौन समानप एहु

प्रकृति

भ्रमरगीत में प्रकृति - चित्रण के मुख्य संदर्भ दो है, पहला सन्दर्भ बड़ी मान-लीला के अनन्तर, झूलागीत, जिसमें गोपियाँ यमुना किनारे वसन्त के गीत गाती हैं। वसन्तलीला कवि के लिये नित्यलीला का प्रतीक है जिसमें प्रकृति के सब अच्छे कार्य नित्यरूप से घटित होते रहते हैं—

नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर
नित्यहिं त्रिविध समीर झकोर
सदा वसन्त रहै जहँ बस
सदा हर्ष जहँ नहिं उदास

फाग और इससे सम्बन्धित लीलाएँ भी, इसी के अन्तर्गत है। गोपियों में 'फागुचरित' का रस देखने की साध है—

फागु चरित रस साध हमारें
खेलत सब मिलि संग तुम्हारें

इस नित्य क्रीड़ा में उल्लेखनीय यह है कि गोपियाँ भी, अपने सुन्दर परिवेश में प्राकृतिक पृष्ठभूमि की, प्रतिपृष्ठभूमि बनकर खड़ी हैं, प्रकृति का सौन्दर्य और रमणी का सौन्दर्य मिलकर एकाकार है—

राधे जू आज बनै वसंत
मनहु मदन विनोद विहरत नागरी
मिलत सम्मुख पटल पाटल भरति आनन्द जुहार

प्रकृति और नारी का सौन्दर्य के सन्दर्भ में ऐसा तादात्म्य अपभ्रन्श कवि स्वयं भू और पुष्पदन्त ने भी दिखाया है । प्रकृति का सजा हुआ रूप यथार्थत: काम का महालेख है, जिसे वसन्त ने आम्रकिशलयों पर कामवाण की लेखनी से स्वयं लिखा है, कमलों पर मडराते भ्रमरों ने इसमें स्थायी काम किया है । स्वयं पवन दूत इसे लेकर आया है और शुक-पिक उसे पढ़कर सुना रहे हैं—

ऐसौ पत्र पठायौ वसन्त
तजहु मान मानिनी तुरन्त
कागद नव दल अंबनि पाय
देत कमल मसि भँवर सुहात
लेखनी काम वाण के चाप
लिखी अनंग कसि दीन्ही छाप

इसके बाद फाग और झूमक नृत्यों से सारा वातावरण सरस हो उठता है । इस प्रकार यह समूचा वर्णन, उद्दीपन भावना से प्रेरित है, जिसमें कवि प्रकृति और नारी के सौन्दर्य में साम्य पाता है ।

सूर के प्रकृति-चित्रण का दूसरा सन्दर्भ है वियोग । कवि की हृदय को छू सकने वाली अभिव्यक्तियाँ इसी सन्दर्भ में है । प्रिय-वियोग में विरह विदग्धा गोपियों को प्रकृति जैसे काटने दौड़ती है, उन्हें आश्चर्य है इस बात पर कि मधुवन हरा भरा क्यों है ?

मधुवन तुम कत रहत हरे
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरै
मोहन बेनु बजावत तुम तर साखाटेकि खरे
मोहे थावर अरु जड़ जंगम मुनि जन ध्यान टरे
वह चितवन तू मन न धरत है फिरि फिरि पुहुप धरे ।

गोपियों को याद है वह दृश्य जिसमे श्याम ने मुरली से उन्हें मुग्ध किया था और जिसकी स्वरलहरी में समूची प्रकृति रसस्नात हो चुकी थी, आज जब, उनके वियोग की व्रज की प्रकृति पर कोई प्रतिक्रिया नही होती, तो उनकी संतप्ति स्वाभाविक है । वियोग मे गोपियों के नेत्र विशेष दुःखी हैं इतने दुःखी कि वर्षा से उनकी होड़ लगी हुई है । 'सखी इन नैननि तें घन हारे' में व्यतिरेक शैली पर, वर्षा का आरोप अपनी आँखों पर कर लेती है, आँखों का बेमौसम बरसते रहना, ताराओं का सदा

मलिन रहना, उच्छ्वास के समीर से सुख वृक्षों का उखड़ जाना, दु:ख की वर्षा के प्रकोप से शब्द के पक्षियों का मुख के घौसले में छिप रहना, वर्षा का चित्र मूर्त करता ही है साथ ही उसका नेत्रों पर आरोप भी। एक दूसरे पद में नेत्र सावन-भादों को जीत लेते हैं। उनकी जीत के कारणों के सन्दर्भ में वे बताती हैं कि आंखों ने समुद्र का जल खारी कर दिया है। वे भूलकर भी किसी को रास्ता नहीं देती, बादल उनके लिये बरसते है, परन्तु उनके नेत्र, केवल प्रिय के लिये, बादलों के बरसने की अपनी एक निश्चित अवधि और मात्रा है, पर नेत्रों की अश्रुधारा पल भर के लिये, विश्राम नहीं लेती, फिर वे कहती हैं कि उनकी वर्षा प्रलय की वर्षा है जिसमें सारा संसार डूब सकता है—

नैना सावन भादौ जीते

अपभ्रन्श की एक मुक्त वियोगिनी, छओं ऋतुओं का अपने अंग पर आरोप करती है—

एक्कहिं अक्खिहिं सावणु
अन्नहिं भद्दवउ
माहउ महि जल सत्थरि
गंडत्थले सर उ
अंगहिं गिम्ह
सुहच्छी तिल वणि मेगसरू
वहै मुद्ध हे मुह पंक
उनवासि उ सिसुरु

इस प्रकार अपभ्रन्श की वियोगिनी ने जिस सावन भादों को अपने में बसाया था सूर की वियोगिनी ने उन्हें भी मात दे दी।

वर्षा का स्वतंत्र वर्णन है पावस प्रसंग में। वे अनुभव करती है कि प्रिय के वियोग में वर्षा जाने का नाम नहीं लेती '**ब्रज तै पावस पै न टरी**'

पवन से हिलकोरे खाती हुई सैन्यघटा देखकर गोपियाँ कहती है कि वर्षा के दिन रूठने के नहीं हैं—

ये दिन रूसिवै के नाहीं
कारी घटा पौन झकझोरै
दादुर मोर चकोर मधुप पिक
बोलत अमृत बानी

इतने पर भी, यदि प्रिय नहीं आते तो गोपियों की चिन्ता बिल्कुल स्वाभाविक है। चारों ओर उमड़ते हुए बादलों का घिराव ऐसा लगता है मानों कामदेव के मद-माते हाथियों ने बन्धन तोड़कर उन पर आक्रमण कर दिया हो और जिन्हें रोक सकना, पवन के महावत के भी वश की बात नहीं—

देखियत चहुँ दिसि तैं घनघोरे

मानो मत्त मदन के हथियन बलि करि बंधन तोरे
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद बरसत थोरे थोरे

इस आक्रमण का नेतृत्व कर रहा है स्वयं कामदेव—

व्रज पर सोज पावस दल आयौ
धुरवा धुंधे उठि दसहुँ दिसि गरज निसान बजायौ
चातक मोर इतर पैदल गन करत अवाजैं कोयल
स्याम धरा गज असनि बाजि रथ बिच बगपाँति संजोयल
दामिनि कर करवाल बूंद सर इहि विधि साजै सैन
निधरक भयौ चल्यो व्रज आवत अग्र फौजपति मैन

गोपियों की वे उक्तियां विशेष मार्मिक हैं जिनमें उनकी वेदना काजर बनकर ढुलक जाती है—

स्याम बिना उनए ये बदरा
आजु स्याम सपनै मैं देखे भरि आए नैन ढरकि गयौ कजरा,

बादलों की तुलना में कभी वे प्रिय की कठोरता को व्यंजित करती हैं—

वरु ए बदरौ बरसन आए
अपनी अवधि जानि नन्दनन्दन गरजि गगन घन छाये
कहियत हैं सुर लोक बसत सखि सेवक सदा पराए
चातक पिक की पीरि जानि कै तेउ तहाँ ते धाए
द्रुम किए हरित हरखि वेलि मिलि दादुर मृतक जिवाए

बादल, परदेशी, प्रिय स्वदेशी। बादल, दूसरे का अनुचर, प्रिय स्वतंत्र। बादल जड़, प्रिय सहृदय सचेतन। फिर भी आने का नाम नहीं। संदेश का पता नहीं। उन्हें इस बात पर भी कम आश्चर्य नहीं कि क्या उस देश पर ऋतुओं का चक्र नहीं घूमता? क्या वहाँ मेघ तक नही गरजते—

किन घन गरजत नहिं उन देसनि

लगता है कि मथुरा की प्रकृति ने भी अपनी सहज प्रकृति बदल दी है (प्रिय तो प्रकृति बदल ही चुके हैं), फिर वे प्रिय को मेघों में देखती हैं कि—

आज घनश्याम की अनुहार
आए उनइ साँवरे सजनी देख रूप की रारि

पर यह साम्य एक संभावना के रूप में है। असाढ़ तो वे किसी तरह बिता लेंगी, परन्तु सावन का क्या होगा? सब ओर से अवरुद्ध मार्गों से प्रिय आना चाहकर भी नहीं आ सकते। उन्हें सबसे अधिक सताता है 'मोर'—

आज वन मोरनि गायौ जाइ
जबतै स्वपन परयौ सुनि सजनि तबतै रह्यौ न जाइ

चातक उनकी स्वरानुभूति जो लेता है, क्योंकि वह प्रिय का नाम लेकर, अपने स्वरों के अमृत में उन्हें जीवित रखता है। वे उसे असीसती हैं—

बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारै

वही गोपियाँ मानसिक स्थिति ठीक नहीं रहने पर उसे कोसती हैं—

विरह जरी तूँ कत जारत

शरद में भी नहीं आने पर उन्हें पक्का विश्वास हो गया है कि प्रिय पराए हो चुके हैं —

अमल अकास कास कुसुमित छिति
लच्छन स्वच्छ बनाए
सर सरिता सागर जल उज्ज्वल
अति कुल कमल सुहाये

इसके ठीक बाद है चन्द्रोपालंभ जो परम्पराभुक्त है। कुल मिलाकर प्रश्न यह है कि सूर की प्रकृति को किस रूप में विश्लेषित किया जाय ? शास्त्रीय दृष्टि, इस सम्बन्ध में अधिक सहायता नहीं करती, क्योंकि वह अपने आप में स्पष्ट नहीं है। एक ओर वह 'प्रकृति रस' मानती है और दूसरी ओर चित्रण की कई विधाएँ स्वीकार करती है। इन विधाओं में से 'अलंकार और परिगणन' को विधा स्वीकारना एकदम अशास्त्रीय है। स्वतंत्र रूप में प्रकृति-चित्रण में प्रकृति कवि की भावना का आलंबन बनती है। आलम्बन रूप में वह मनुष्य की भावना के संदर्भ में आती है। अलंकृत शैली में प्रकृति का अलंकृत चित्रण होता है। आरोपित शैली में कवि अपनी भावना को प्रकृति पर आरोपित करता है, जहाँ तक प्रकृति रस को मानने का प्रश्न है, वह स्वीकार्य नहीं है। सूर ने शास्त्रीय संदर्भ में रह कर प्रकृति चित्रण नहीं किया। फिर भी उसमें उक्त विधाओं का तारतम्य देखा जा सकता है। रासलीला का प्रकृति चित्रण, गतिशील सौन्दर्य के संदर्भ से दूर है। सूर के सबसे सशक्त प्रकृति-चित्रण संयोग-वियोग के संदर्भ में हैं। यह तो स्पष्ट है कि वह सब उद्दीपन के रूप में हैं। संयोग की तुलना में, वियोग से सम्बन्धित चित्रण व्यापक है, नेत्रों के सन्दर्भ में व्यक्त उक्तियाँ, विशेष महत्व रखती हैं। इनमें वियोग की तीव्रता, और प्रिय का आभास मुखरित है। कामदेव की आक्रमणशीलता के संदर्भ में वे जो कुछ कहती हैं वह हृदय को छूता है। मेघ जो जड़ है, दूसरे का अनुचर है, और देवलोक में रहता है, वह पिक और चातक की पुकार पर दौड़कर आ सकता है, पर उसके प्रिय नहीं, कितना विरोधाभास है ? वे विचारी प्रिय के आने में प्राकृतिक कारणों को ही जिम्मेदार समझती हैं जैसे—मार्ग रुद्ध हो जाना आदि, इससे उनकी लोकजीवन में अभिरुचि प्रगट होती है। मुख्यरूप से सूर के प्रकृति वर्णन में उद्दीपन और अलंकृत विधाएँ हैं, साथ ही अनुभूति का स्पर्श भी। कुछ उन्होंने सुन्दर प्राकृतिक चित्र भी दिए हैं।

रूपक शैली

शास्त्रीय संदर्भ में रूपक एक अलंकार है, और अलंकार काव्य का शोभाविधायक तत्व है। अलंकार काव्य की आत्मा हो या नहीं, पर यह एक स्वीकृत तथ्य है कि

'सृजन प्रक्रिया' में अलंकार कवि से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। पाठ्य काव्य में अनुभूति से लेकर प्रेषणीयता तक सारा भार शब्द को ही वहन करना पड़ता है। रूपक में प्रस्तुत, अभेद रूप से, अप्रस्तुत से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। उपमेय को उपमान से अभिन्न रूप में देखना ही रूपक है। जब कवि रूपकों में अपनी बात कहता है, तो उसे 'रूपक शैली' कहा जाता है। भारतीय कवि विशेष रूप से लोक भाषा कवि स्वयंभू और पुष्पदन्त अपने रूपकों के लिये प्रसिद्ध हैं। 'रामचरित मानस' में भी रूपकों का खुलकर प्रयोग है। रूपक की लोकप्रियता का पहला कारण यह है कि उसमें संक्षिप्तता होती है, क्योंकि कवि आरोप द्वारा दुहरे कथन से बचता है। दूसरे, कथ्य की अभिव्यक्ति में अधिक स्पष्टता आती है। तीसरे, काव्यभाषा में क्रियाओं का प्रयोग कम होता है, रूपक में विशेषण शब्दों से, कवि अपना काम चला सकता है। अप्रस्तुत ज्ञात होता है अत: उसके द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति अधिक स्पष्टता से कराई जा सकती है। जहाँ तक सूरदास जी का सम्बन्ध है भ्रमरगीत में उनके रूपक तीन संदर्भों में विशेष रूप से आते हैं। पहला संदर्भ है, विरह की तीव्रता का बोध, दूसरा संदर्भ है प्रेम की कठिनता का ज्ञान, तीसरा संदर्भ है परिस्थितिजन्य विषमता का साक्षात्कार करना। हठयोग जैसी नीरस साधना के खंडन में भी यह रूपक महत्वपूर्ण काम करता है। उदाहरण के लिए अपनी विरहानुभूतियों में गोपियां समझती है कि कृष्ण से प्रेम करना— उनके लिये दिनाई दिये जाने की प्रक्रिया में से गुजारना है। दिनाई देना विरोधी की कपट हत्या का एक साधन है जिसमें आदमी घुल-घुल कर मरता है। **दीन्हीं प्रीत दिनाई।** निराश प्रेमी की भी लगभग यही स्थिति होती है। एक रूपक में वे 'मछली फँसाने' की क्रिया का आरोप कृष्ण पर करती हैं। गोपियों के लिए प्रेम जीवन का सौदा है जबकि कृष्ण के लिये महज आखेट का खेल।

> ऊधो अरु अक्रूर बधिक मति व्रज आखेट ढए
> वचन फांस बांधे मृग माधौ उन रथ लाइ लए
> इनहीं हेरि मृगी गोपी सब सायक ज्ञान हए
> जोग अब नीकी दवा देखियत चहुँ दिसि लाइ दए

गोपियां जिस प्रेम की शिकार है, उसमें तीन भागीदार हैं। स्वयं माधव, अक्रूर और उद्धव। उद्धव की क्रूरता इसी से जानी जा सकती है कि उन्होंने हठयोग के बहाने चारों ओर दावानल जला दिया है। सचमुच कृष्ण के कपटपूर्ण प्रेमजाल में फँसना गोपियो के लिए वैसा ही है जैसे मधु खोरी मक्खी का होना। एक ओर रूपक में उन्हें कृष्ण का प्रेम तलवार से भी अधिक घातक जान पड़ता है। उसका अंतिम पटाक्षेप है उससे आहत होकर वीरगति को प्राप्त होना।

> तिहारी प्रीति किधौं तरवारि
> दृष्टि धारि करि मारि सांवरे घायल सब व्रज नारी
> रही सुखेत ठौर वृंदावन रनहु मय न मानत

कुछ रूपक राधा के लिए अर्पित है। गोपियां राधा की विरह (दोनों) नदी में

बाढ़ की कल्पना करती हैं जिसमें पलकों के दोनों किनारे डूब चुके हैं और अब यह संभव नहीं रहा कि वे नौका में चढ़कर गोकुल तक पहुँच जाँय। ऊँची सांसों से उठने वाली हवाओं ने तिलक तरुओं को धराशायी कर दिया है। दोनों किनारे काजल की कीचड़ से लथपथ हैं। तूफ़ान ने सारी संचार-व्यवस्था भंग कर दी है। एक रूपक में वर्षा का व्रज पर चढ़ाई करने का आरोप है। चारों ओर उठता हुआ धुंध। बादलों ने कूच का डंका बजा दिया है। चातक कोयल और मोर की लगातार आवाजें, और उस पर घहराती हुई श्याममेघ घटाएँ। नीचे उठती हुई बकमाला। बिजली की तलवारें और बूंदों के तीरों की लगातार बौछार। कामदेव का नेतृत्व। वर्षा के ये रूपक एक तो उसकी उद्दीपकता को दिखाते हैं, दूसरे इन्द्र के कोप की याद दिलाते हैं। इस प्रसंग से प्रिय का गहरा सम्बन्ध है। यमुना पर विरहिणी का आरोप, और उसके द्वारा राधा की मरणासन्न स्थिति का उभरता हुआ चित्र समूचे व्रज की स्थिति को साकार कर देता है। अपने टूटते हुए अभिमान की झलक देने के लिये वे कहती हैं — **सखी री मौन मान गढ़ टूट्यौ**

ऐसे रूपकों में परम्परा का निर्वाह है। परन्तु उनका सबसे तीखा रूपक वह है, जिसमें उन्हें प्रेम और मृत्यु में से, दूसरा विकल्प ही अधिक मुखर जान पड़ता है—

> **मधुकर दीन्ही प्रीति दिनाई**
> **मरल दान देते वरु नीकौ सावधान है खाई**
> **कै मारै कै काज सरै दुःख न देख्यौ जाई**
> **कहि मारै सो सूर कहावैं मित्र द्रोह न भलाई**

प्रश्न है कि प्रेमदान को छोड़कर विषदान का गोपियाँ क्यों वरण करना चाहती हैं ? उत्तर स्पष्ट है कि विषदान में आदमी मरता है, पर उसे धोखा नहीं रहता। इसके विपरीत, प्रेमदान में आदमी गफलत में मारा जाता है। गोपियों को उतना दुःख वियोग का नहीं, जितना कि इस बात का कि उन्हे धोखे मे रखा गया है।

गोपियों के चरित्र-बल और साधना की दृढ़ता का बोध कराने वाले रूपक विशेष सबल और प्रभावशाली हैं, खासकर जब वे अपने आप को लता मानकर कहती हैं— हम वे लताएँ नहीं हैं जिन्हें कृष्ण आसानी से छोड़ देते है, वे बचपन से प्रिय के स्पर्श से बड़ी हुई है। प्रभंजन हमे उखाड़ नहीं सका है, हम श्याम-तमाल से उलझी हुई हैं। हमारी देह रूपी लता में प्रेम का सुन्दरतम सुमन खिला हुआ है, जो श्याम के लिए है और वियोग के लगातार थपेड़े खाते हुए भी वे जानती हैं कि उनका प्रेम निराधार नहीं है—

> **मधुकर हम न होहिं वे बेली**
> **ये बल्ली बिहरत वृन्दावन उरझी श्याम तमालहिं**
> **प्रेम पुष्प रस बास हमारे विलसत मधुप गोपालहिं**
> **जोग समीर धीर नहिं डोलत रूप डार ढिग लागी**
> **सूर पराग न तजत हिएँ ते कमल नयन अनुरागी**

ऐसे रूपक में सूर के कवि की अलंकार-प्रतिभा अपनी चरम स्थिति में होती है। इनमें चरित्र की दृढ़ता गोपियों की अनुभूतियों में से उभरकर आती है। वियोग के आध्यात्मिक स्तर पर गोपियों की दृढ़ता अत्यन्त तीव्रता से मुखरित है, वे निर्गुण की कथा सुनना पसन्द नहीं करतीं—

ऊधौ औरे कथा कहौ
तज जस, ज्ञान सुनि तावत त्वनु वरु गहि मौन रहौं
जा के बिच राजत मन पर वत स्यामसूल अनुरागी
तापै रति द्रुम रीति नयन जल सींचत निशिदिन जागी
ग्रीसम अलि आए प्रगट्यौ मीन जोग रवि हेरे
सो मुरझात सूर कौ राखै मेह नेह विनु तेरे।

गोपियों के मन पर्वत पर प्रेम का एक विरवा उपजा है, जो श्याम की विरह वेदना से अत्यधिक प्यार करता है। आँखों के जल से सींच-सीच कर वे उसे हरा-भरा रख रही है। योग का रवि उसे जलाना चाहता है, उसकी तपन में सब कुछ झुलस चुका है और अब गोपियाँ मांग करती है मौसम परिवर्तन की—

ऊधौ औरे कथा चलाव

गोपियाँ एक रूपक में अपना यह विश्वास दुहराती है कि व्रज के धरातल पर सगुण-साधना का दीपक आलोकित है। ऐसा दीपक, जिसमें समूची निर्गुण साधना सिमट कर आ गई है।

या व्रज सगुन दीप प्रकास्यौ
सुनि ऊधौ भृकुटि निशदिन प्रकट अमावस्यौ
सबके उर सर बनि सनेह भरि सुमन तिली को वास्यौ।

यह एक लम्वा सांगरूपक है जिसमे कवि हठयोग साधना की सारी व्यर्थताओं को तुलनात्मक दृष्टि से रख देता है। 'गोकुलनाथ' से गोपियों का अभिप्राय सगुण साकार कृष्ण की उपासना से है इसमें प्रेमसाधना योगसाधना पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करती है। विजय भी एक नही, कई स्तरों पर। प्रिय में उनकी अनन्यनिष्ठा ही उनकी साधना का महत्वपूर्ण अंग है। परिवार और नियम की मर्यादा को तोड़कर भी वे इस पथ पर आगे वढ़ सकी हैं। मान अपमान की स्थितियों से वे कोसों दूर है। दैहिक अस्तित्व को भूलकर प्रिय के सौन्दर्य मे खो जाना ही उनकी सहजतम समाधि है। प्रिय की मुसकान, वंशी की धुन, और प्रिय से हुई वातचीत—उस आनन्द का प्रतीक है जिसकी तुलना ब्रह्मानन्द से भी नही की जा सकती। और सबसे वड़ी वात यह है कि प्रेम की साधना का यह सरस मन्त्र इन्हे दिया है साक्षात् कामदेव ने, फिर नीरस निर्गुण की वात कौन सुनेगा?

अन्त में गोपियाँ अनुभव करती हैं कि उनकी यह प्रेम-साधना जीवन के अस्तित्व की सार्थकता की साधना है। उनके शरीर प्रिय के लिए अर्पित मगल कलश है। शरीर के इन घड़ो का कच्चा निर्माण किया था उस विधाता ने, इन पर प्रिय ने अपने

हाथों से चित्रकारी की। अवधि की सीमा में, विरह की ज्वाला में जलकर ये अभी तक अधपके ही थे, अच्छा हुआ तुमने आकर इन्हें पक्का कर दिया। इस प्रकार, यदि उद्धव ने आकर, अपने उपदेश से उनका प्रेम प्रमाणित कर दिया तो इससे बढ़कर दूसरी अच्छी बात क्या हो सकती है ?

ऊधौ भली करी तुम आए
विधि कुलाल कीन्हौं काँचे घट ते तुम आनि पकाए

इस प्रकार के रूपक आत्मकथ्य की अनुभूतिमयता के सन्दर्भ में विशेष महत्व रखते हैं। इसमें अनुभूति की चित्रात्मक प्रेषणीयता है। लम्बे सांगरूपक उबाने वाले अवश्य लग सकते हैं, परन्तु उसका अपना एक उद्देश्य है। इस प्रकार रूपक सूर के कवि के निकट मात्र रूपक नहीं, बल्कि उसकी अनुभूति का प्रेषक, चित्रकार और हठयोग-साधना से छिन्न-भिन्न करने का हथियार है।

+++++++
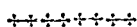
८ | लोकोक्तियाँ और मुहावरे

सूर की अभिव्यक्ति की एक विशेषता है लोकोक्तियों और मुहावरों से जड़ी हुई भाषा और इसका सर्वोत्तम रूप उपलब्ध है 'भ्रमरगीत' में। प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा मे मुहावरे थे या नहीं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि 'मुहावरे' प्राचीन भाषा में थे पर कम। इस कमी के दो कारण हो सकते है। एक तो प्राचीन समय में कार्यक्षेत्र सीमित और सरल था और दूसरे दृष्टि-कोण का साहित्यिक एवम् आदर्शवादी होना यह एक विचित्र वात है कि संस्कृत में शब्द-शक्तियों का गहन चिन्तन उपलब्ध होते हुए भी मुहावरे पर कुछ भी विचार उपलब्ध नही। डा० ओमप्रकाश गुप्त की पुस्तक 'मुहावरा-मीमांसा' इस दिशा में प्रथम प्रामाणिक प्रयास है। लेखक ने शोध-स्तर पर मुहावरे की परिभाषा और दूसरे तत्वों का विश्लेषण किया है। डाक्टर गुप्त ने मुहावरे की यह परिभाषा दी है—

"प्राय: शारीरिक चेष्टाओं, अस्पष्ट ध्वनियों, कहानी कहावतों अथवा भाषा के कतिपय विलक्षण प्रयोगों के अनुकरण और आधार पर निर्मित, और अभिधेयार्थ से भिन्न कोई विशेष अर्थ देनेवाली; किसी भाषा के गठे हुए वाक्य, वाक्यांश अथवा शब्द को हम मुहावरा कहते है।" (मुहावरा भीमांसा पृष्ठ ३७६) उनका यह भी कथन है कि मुहावरे से वास्तविक अर्थबोध के लिए 'तात्पर्यवृत्ति' को स्वीकार करना होगा। मुहावरे का सम्बन्ध मनुष्य और मनोविज्ञान से है। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ Similarity सादृश्य, विरोध Contrast और संनिधि Contiguinity भी मुहावरे के वनने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। मुहावरे में शब्द-योजना को वदला नहीं जा सकता और वह अलंकार तथा शब्द-शक्तियों से सम्बद्ध है। मुहावरा भाव का एक चित्रमात्र है। "शब्द-शक्तियाँ और अलंकार तो मुहावरे की टकसाल हैं, यहीं से लोक-व्यवहार के साँचे में ढल-ढलकर ये साहित्य को कुबेरत्व प्रदान करते हैं।"

डा० व्रजेश्वर वर्मा की परिभाषा भी इस प्रकार है—

"जब ये शब्द-समूह प्राय: पूर्ण वाक्यों का रूपधारण करके सामान्य अनुभव के रूप में प्रकट होते है तब लोकोक्ति या कहावत कहलाते हैं और जब विशेष सन्दर्भों के साथ प्राय: वाक्यांशों में प्रकट होते है तब मुहावरे। तनिक से परिवर्तन के साथ अधि-कांश मुहावरे लोकोक्तियों में परिणत किये जा सकते हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों में

किसी-न-किसी रूप में वाच्यार्थ का वोध होकर लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ से पूर्ण होता है। अन्यथा अलंकार का प्रयोग होता है।"

इस प्रकार डा० वर्मा के अनुसार लोकोक्ति वह सम्पूर्ण वाक्य है जिसमें सामान्य अनुभव प्रकट हो, इसके विपरीत मुहावरा वह वाक्यांश है, जो विशेप सन्दर्भ में प्रयुक्त होता हो अर्थात् लोकोक्ति एक पूर्ण वाक्य है और मुहावरा खण्ड वाक्य। लोकोक्ति का सन्दर्भ सामान्य अनुभव है और मुहावरे का विशेप।

पहले हम डा० गुप्ता की परिभापा को लें। उनकी परिभाषा के तीन खण्ड हैं—

पहला खण्ड, मुहावरों के कारणों का उल्लेख करता है ये कारण है, शारीरिक चेप्टा, अस्पप्ट ध्वनि, कहानी कहावत, भापा के दूसरे विलक्षण प्रयोगों का अनुकरण। दूसरा खण्ड जिसमें बताया गया है कि मुहावरे का अर्थ अभिधेयार्थ से अलग रहता है। तीसरा खंड, जो बताता है कि वाक्य वाक्यांश अथवा शब्द वगैरह ही मुहावरे का रूप धारण करता है। जहाँ तक पहले खंड का संबंध है उसे परिभापा में देने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इससे परिभापा का अनावश्यक कलेवर बढ़ता है। दूसरा खण्ड भी अनावश्यक है क्योंकि अभिधा से भिन्न अर्थ होने पर ही मुहावरा हो सकता है। तीसरे खण्ड में 'शब्द' वगैरह को भी मुहावरा कहा गया है, परन्तु 'शब्द' मुहावरा नहीं लाक्षणिक प्रयोग है। और वाक्यांश में भी यह स्पप्ट नहीं दिखाया गया है कि किस तरह का वाक्यांश मुहावरा बनता है। अभिधेयार्थ से भिन्न अर्थ को बतलाने वाले —यह कहने के बजाय यह कहना ठीक है कि लक्ष्यार्थ को व्यक्त करने वाला वाक्य है। 'बन्दूक' जा रही है, एक वाक्य है जिसका लक्षण से अर्थ होता है कि बन्दूक वाला जा रहा है। दूसरा वाक्य है 'वह आँख दिखाता है'—यहाँ आँखें दिखाने का लक्षित अर्थ है—नाराज होना। पहले वाक्य में लक्ष्यार्थ का लक्ष्य शब्द है न कि क्रिया। दूसरे वाक्य में लक्ष्यार्थ का लक्ष्य है 'आँखे दिखाना' क्रिया। बन्दूक जा रही है की जगह, बंदूक सो रही है कहा जा सकता है। इससे लक्ष्यार्थ नहीं बदलता। परन्तु 'आँख दिखाना' में अभिधागत अर्थ में कोई चमत्कार नहीं क्योंकि चाहे आप आँख दिखाएँ या नहीं, वह तो दिखती ही है। अतः मेरे विचार में लाक्षणिक क्रिया ही मुहावरा है। संस्कृत में भी इस प्रकार की लाक्षणिक क्रियाएँ थीं जैसे:—संत प्रकुरुते—वह सौ रुपए की बाजी लगाता है।

डा० गुप्त ने अधिकांश लाक्षणिक प्रयोगों को मुहावरों मे गिना दिया है। उनकी भारी भरकम परिभापा को सक्षिप्त रूप देकर कहा जा सकता है कि लाक्षणिक वाक्य, वाक्यांश या शब्द ही मुहावरा है। परन्तु इससे भी मुहावरे के वास्तविक स्वरूप का वोध नहीं होता। मुहावरे की विशेषता क्रिया में है न कि वाक्य में। वाक्य का भी अर्थ बदलता है क्रिया के कारण। इसलिए प्रत्येक शब्द-समूह मुहावरा नहीं बनता जैसा कि डा० वर्मा कहते हैं। उनका यह कथन भी मान्य नहीं हो सकता कि लोकोक्ति पूर्णवाक्य है और मुहावरा खण्डवाक्य है। मुहावरा आधुनिक भारतीय आर्यभापा की नई उपलब्धि

नहीं है पर उसकी बहुलता अवश्य विशेष बात है और इसका एक कारण है आधुनिक आर्यभाषा की वियोगात्मक स्थिति। संयोगावस्था में क्रिया, काल, वचन और पुरुष के निर्देशक तत्वों से संश्लिष्ट रहती थी, वियोगावस्था में बहुत-सा काम सहायक क्रिया करने लगी। इससे क्रिया में लचीलापन आ गया। 'आँख दिखाना', 'आँख लगना', 'आँख बन्द होना'—ऐसे ही क्रिया प्रयोग हैं जो मुहावरे हैं। 'आँख दिखाना' का संस्कृत में 'नेत्रं दर्शयति' अनुवाद होगा परन्तु वह मुहावरे का अर्थ नहीं दे सकता। भारतीय आर्यभाषा की मध्यकालीन अन्तिम अवस्था अपभ्रंश में मुहावरों के प्रयोग की विकासशील स्थिति देखी जा सकती है। अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त का निम्न अवतरण उद्धृत है। सन्दर्भ है कि बड़ा भाई भरत दूत के द्वारा, अपनी अधीनता मान लेने का प्रस्ताव अपने भाई बाहुबलि के पास भेजता है। दूत लौटकर, बाहुबलि की प्रतिक्रिया भरत को बता रहा है—

विसमु देव बाहुबलि नरेसरु
णेहुण संधइ संधइ सरु
कज्जु ण बंधइ बंधइ परियरु
संधि न इच्छइ इच्छइ संगरु

वह नेह नहीं जोड़ता, जोड़ता है धनुष पर तीर। अपना काम नहीं बाँधता, बाँधता है कमर। संधि नहीं चाहता, चाहता है युद्ध।

इसमें 'संधइ' और 'बंधइ' क्रियाएँ श्लिष्ट है जिसमें दूसरा अर्थ लक्षणा से मिलता है। डा० उदयनारायण तिवारी के अनुसार हिन्दी उर्दू में लक्षणा-व्यञ्जना द्वारा सिद्ध वाक्य को मुहावरा कहते हैं। उनके कथन का जो अर्थ मैं समझता हूँ वह यह कि वे उस वाक्य को मुहावरा कहते हैं जिसका अर्थ लक्षणा या व्यञ्जना से निकलता हो। सिद्ध वाक्य से डा० तिवारी का अभिप्राय मेरे विचार में अर्थ की सिद्धि से है। मेरी दृढ़ मान्यता है कि वाक्य का लक्ष्यार्थ निकालना तभी सम्पूर्ण और सिद्ध माना जा सकता है जबकि उसमें लाक्षणिक क्रिया हो। वही वाक्य को सम्पूर्ण बनाती है। अतः लाक्षणिक क्रिया ही वस्तुतः मुहावरा है।

यहाँ, यह विचार अप्रासंगिक होगा कि मुहावरे का निर्माण एक व्यक्ति करता है या बहुत से व्यक्ति। यह उसी प्रकार का प्रश्न है जैसा कि अक्सर भाषा की उत्पत्ति के बारे में उठाया जाता है। यह कहना भी गलत है कि 'मुहावरे' में उद्देश्य-विधेय की कल्पना नही की जा सकती। लाक्षणिक क्रिया होने से मुहावरा विधेय तो है ही। यह एक विरोधाभास है कि कुछ विद्वान मुहावरे को एक ओर वाक्यरूप में स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि उसमें उद्देश्य-विधेय नहीं होता। लोकोक्ति और मुहावरा की परिभाषा के विषय मे भी काफी मतभेद है। लोकोक्ति का सीधा अर्थ है लोक की उक्ति। लोकोक्ति के सम्बन्ध में एग्रिकोला का कहना है कि "ये संक्षिप्त और शुद्ध होने के कारण प्राचीन दर्शन के विध्वंस और विनाश से बचे

हुए अवशेष हैं। वे वाक्य जिनमें सूत्रों की तरह आदि पुरुषों ने अपनी अनुभूतियों को भर दिया।" इसमें सन्देह नहीं कि चाहे लोकोक्ति बुद्धिमान का कटाक्ष हो या पांडित्य का चिन्ह— वह लोक की उक्ति होकर ही अपना स्वरूप लाभ करती है और लोक मानस में जीवित रहती है। लोकोक्ति की अनुशंसा में विद्वानों ने जो कुछ कहा है उससे यही सिद्ध होता है कि वह लोक की तलचेतना से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध होती है। लोकोक्ति के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत है कि वह मुहावरा ही है, दूसरा मत है कि वह उससे अलग है। इस सन्दर्भ में स्मिथ का मत उध्दृत किया जा रहा है— "कुछ लोकोक्तियाँ और लोकप्रसिद्ध पद हमारी बोलचाल की भाषा में इतने घुल-मिल गए हैं कि शायद वे भी मुहावरे की परिभाषा को बिना खींचे ताने अंग्रेजी मुहावरे समझे जा सकते हैं। लेकिन डा० ओमप्रकाश ने अधिक विस्तार से लोकोक्ति और मुहावरे का अंतर स्पष्ट किया है। इस बारे में उन्होंने अपना पंच-सूत्रीय फार्मूला दिया है-

लोकोक्ति वाक्य है जब कि मुहावरा खंडवाक्य या पद।

लोकोक्ति का वाक्यगत स्वरूप नहीं बदलता। उसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप में होता है। जैसे 'धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का'। परन्तु मुहावरे का स्वरूप बदलता है, जैसे 'मुँह बनाना' एक मुहावरा है जिसके धातु के समान व्याकरण के नियमानुसार रूप चल सकते हैं, जैसे—मुँह बनाया, मुँह बनाएँगें आदि। परन्तु कहावत में यह परिवर्तन सम्भव नहीं, 'अंधी पीसे कुत्ते खाँय' एक कहावत है इसके स्थान पर अंधी पीसती है और कुत्ता खाता है कर देने पर कोई इसका अर्थ नहीं समझ सकता। यदि समझेगा तो नाकभौंह सिकोड़ेगा और आपके प्रयोग पर हँसेगा। कारण यह कि कहावतों का रूप स्थिर होता है। उसके शब्द प्रायः निश्चित रूप से बोले जाते है। न्यायशास्त्र के अनुसार वाक्य में तीन अंश रहते हैं—उद्देश्य, विधेय और विधान चिन्ह। लोकोक्ति में तीनों रहते हैं, मुहावरे में एक भी नहीं। वाक्य में प्रयोग किये बिना मुहावरे का अर्थ समझना कठिन है, परन्तु लोकोक्ति के लिए यह बात नहीं।

उपयोगितावाद के कोण से भी मुहावरा चमत्कार समृद्धि या प्रभाव उत्पन्न करता है, जबकि लोकोक्ति किसी बात का समर्थन खंडन या संपुष्टि।

इस बात में दो मत नहीं कि लोकोक्ति और मुहावरे में अन्तर है, परन्तु उन कारणों से नहीं जिनका उल्लेख डा० गुप्त ने ऊपर किया है। उनके तर्कों पर ये प्रतितर्क दिये जा सकते हैं—

(१) जरूरी नहीं कि मुहावरा वाक्य न हो, या यह कि वह छोटा ही हो, मुहावरा भी बड़ा हो सकता है। शाब्दिक कलेवर के छोटाबड़ा होने का परिभाषा से कोई सम्बन्ध नहीं। कहावत की तरह मुहावरा वाक्य होता है। अथवा मुहावरे की तरह कहावत भी दूसरे वाक्य के बिना अपना अर्थ स्पष्ट नहीं करती।

(२) मुहावरे की तरह लोकोक्ति का स्वरूप बदल सकता है। 'अंधी पीसे कुत्ते खाँय' का 'अंधी पीस रही है और कुत्ते खा रहे हैं' हो सकता है। इसका अर्थ समझ में आता है और इसमें हँसने का कोई कारण नहीं। वस्तुतः लोकोक्ति और मुहावरे

में भेदक तत्व यह नहीं है कि उसका स्वरूप बदलता है या नहीं। वरन् यह है कि कहावत मात्र उक्ति है और मुहावरा एक लाक्षणिक क्रिया। 'मुँह बनाना' मुहावरा का उदाहरण देकर यह तथ्य डा० गुप्त स्वीकार कर चुके हैं। अतः रूपविचार और व्याकरण की दृष्टि से दोनों मे अन्तर खोजने की प्रक्रिया ही गलत है। इस सन्दर्भ में न्यायशास्त्र भी हमारी विशेष सहायता नहीं करता। क्योंकि कहा जा चुका है कि मुहावरा में विधेय रहता है। यह साधारण तर्क से समझा जा सकता है कि बिना उद्देश्य के विधेय किसका विधान करेगा। कभी-कभी पूरी कहावत विधेय होती है। डा० गुप्त की यह दार्शनिक उक्ति भी विशेष महत्व नहीं रखती कि लोकोक्ति वाक्य समाज के प्रामाणिक व्यक्तित्व हैं और मुहावरे वाक्य का सूक्ष्म शरीर हैं, स्थूल शरीर के बिना जिनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य में भी यह जरूरी नहीं कि मुहावरा चमत्कार या प्रभाव उत्पन्न करे और लोकोक्ति समर्थन ही दे। डा० गुप्त स्वयं स्वीकार करते हैं कि मुहावरा और लोकोक्ति दोनों के अर्थ विलक्षण होते है, दोनों में व्यञ्जना की प्रधानता होती है, दोनों का ही मुख्य उद्देश्य है प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की व्यञ्जना करना, दोनों की उत्पत्ति और विकास-क्रम एक सा है। पहली दो बातें तो ठीक हैं, परन्तु तीसरी बात के बारे में यह कहना उचित होगा कि मुहावरा और लोकोक्ति दोनों में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की व्यञ्जना की जाती है। लोकोक्ति का अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, प्रतिवस्तूपमा आदि अलंकार बनना, इस बात पर निर्भर करता है कि उसका प्रयोग किस रूप में किया जाता है। यह भी संभव है कि लोकोक्ति मुहावरा बन जाय या मुहावरा लोकोक्ति का रूप ले ले, यह सब उनके प्रयोग पर निर्भर करता है। डा० वर्मा ने लोकोक्ति और अलंकार में यह भेद बताया है कि एक में भाषा का चमत्कार रहता है दूसरे में कल्पना का। परन्तु भाषा का चमत्कार मुहावरे में होता है, लोकोक्ति अनुभव, चिन्तन या किसी दार्शनिक चिन्तन से सम्बन्ध रखती है 'अपनों बोयो आप लुनिए' ऐसा उदाहरण है जिसे डा० वर्मा ने लोकोक्ति और मुहावरा दोनों की श्रेणी में रखा है। इसी प्रकार 'निर्धन का धन' 'जैसे को तैसा' आदि लाक्षणिक प्रयोगों को भी मुहावरों में गिनाया गया है। कुछ सामान्य वाक्य हैं जिन्हें लोकोक्ति बताया गया है जैसे तनुजीवन ऐसो चलि जैहै जैसे फागुन की होली। यह सामान्य बात है, इसमें कोई लोकानुभव या सिद्धान्त निहित नहीं है। अभिप्राय यह कि उदाहरणों के सन्दर्भ में अधिक स्पष्टता और सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है। सूर के मुहावरे और लोकोक्तियाँ अधिकतर हठयोग और निर्गुण की उपासना की अस्वीकृति को प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति देने के लिए हैं। गोपियाँ कहती हैं कि जब हम प्रिय के प्रति सब कुछ अर्पित कर चुकी तो अब किससे उधार माँगने जांय। जिसके पाने का क्रयमूल्य सर्वस्व समर्पण के रूप में चुका दिया उसके लिए अब क्या देना बाकी रह गया कि वे उधार लें[1]। गोपियों को हठयोग का उपदेश उतना बुरा नहीं

---

१. तब सब अरपि रहीं सबही
   का पै लेहिं उधारे। पद-४१२२

लगता जितना कि यह कि उद्धव प्रेमयोग छोड़ने की वात कहते हैं। वे कहती हैं कि हमें हठयोग का उपदेश देना दुख के बीज बोना है, अच्छा हो, उद्धव योगरूपी धन कुब्जा के आँगन में गाड़ दें।[1] यदि उद्धव ऐसी वात (अपना पति छोड़ कर दूसरा पति ढूँढने की वात) किसी दूसरे से करते तो निश्चय ही उनकी अच्छी खासी खातिरी हुई होती।[2] हमारी आँखें तो तुम्हें देखकर ही जलने लगती हैं, उस पर भी तुम्हारा रोप दिखाना व्यर्थ है।[3] हमने तुम्हें लम्बी छूट दे दी है अब तुम चाहो तो मन चाहा बक सकते हो।[4]

तुम यहाँ व्यर्थ निर्गुण के गुण काँख में चाँपे फिर रहे हो, पर यहां ग्राहक मिलना कठिन है।[5] अब हम इस विरह-वेदना से हरि के हाथ पकड़ कर ही छूट सकती हैं[6] तुम फूँक फूँककर व्यर्थ मेरा जी जला रहे हो[7]। उद्धव अब इन नेत्रों का बचना कठिन है। क्योंकि ये उनके गुणों की याद कर ही तप उठते और तुम्हारी बातें सुनकर भी[8] अब हमारे ये नेत्रों के तारे दिगम्बर हो चुके हैं[9] और तरस-तरस कर आँखे खाक हो चुकी हैं[10]। अब इन नेत्रों की पलक नहीं लगतीं।[11] और अब यह उद्धव है कि राख के ढेर पर मसान जगाना चाहता है[12] उद्धव यह कैसे सम्भव है कि हमारा मनरूपी कण झारझूर कर ले गए और अब पयार हमें पकड़ाने

---

१. दुख के बीज बए।
   सूर जीवन धन राखि मधुपुरी
   कुब्जा के घर गाड़ि ।। पद ४१२५
२. अपनो पति तजि और बतावत महिमानी कछु खाते।
३. काहे को अब रोष दिखावत
   देखत आँख बरत है मोरी।
४. लामी मेल दई है तुमको
   बकत रहौ दिन आखौ।
५. चापै काँख फिरत निर्गुन गुनि
६. हरि के हाथ परै तो छूटै
७. फूँकि फूँकि हियरा सुलगावत
   भई भसम की ढेर।
८. क्यों राखें ये नैन सुमरि गुन
   अधिक तपत हैं सुनत तुम्हारे बैन।
९. ता दिन तें ये भये दिगम्बर
   ये नैननि के तारे ।।
१०. सूरदास प्रभु तुम्हरै दरस कौ।
११. हरिबिनु पलक न लागत मेरी
१२. हम तो जरि बरि भसम भई नुन
   आनि मसानि जगायौ।

चाहते है [1]। तुम्हारी ये वातें सुनकर हमारा हृदय ठंडा हो गया है [2]। अव जाओ और इस प्रकार हमारी छाती मत जलाओ। [3]

तुम जले पर नमक व्यर्थ क्यों छिड़कते हो [4]। हमें उपदेश देना पोत सूतरी में पोना है[5]। उद्धव, तुम्हारे उपदेश ने घर-घर में गड़वड़ी उत्पन्न कर दी है [6]। प्रिय की वाट जोहते-जोहते तेरहमास हो गए है[7]। लगता यह है कि तुम प्रारम्भ से ही खोटा खाकर आए हो[8]।वे हमारा तिनका तोड़कर चले गये है[9]।हम वह रही हैं मंझधार में, ऊपर से तुम माँगते हो उतराई[10]तुमसे वात करना गूलर का फल तोड़ना है[11]कहावतों का प्रयोग गोपियाँ उसी सन्दर्भ में करती है जिस सन्दर्भ में मुहावरों का। नारी होने से सगुण की प्रेमाभक्ति ही उनके लिए एक मात्र प्राकृतिक धर्म है, इसके समर्थन में वे लोकोक्तियों की झड़ी लगा देती हैं। उन्हें अपने पथ से मोड़ना लगभग वैसा ही है जैसे कुत्ते की पूँछ सीधी करना; कौए से भक्षण छोड़ने की आशा करना या काली कमरी पर दूसरा रंग चढ़ाना, साँप को काटने के स्वभाव से रोकना, यद्यपि वह जानता है कि काटने से उसका पेट नहीं भरता। इसी प्रकार निर्गुण वहुत बड़ा हो सकता है, परन्तु वह इतना दूर और पहुँच के परे है कि उससे कुछ भी पाने की आशा करना मृग को सोने की डोरी से वाँध लेने की आशा करना है, पानी विलोकर नवनीत पाने की आशा रखना है और आसमान में थेकरा लगाना है, विना दीवाल के चित्र-कारी करना है और है भूसा फटककर उससे अन्नकणों की आशा करना। इसी प्रकार हठयोग और ज्ञानयोग में विरोध है वे एक जगह उसी प्रकार नहीं रह सकते, जैसे कि धनिया, धान और कद्दू एक जगह नहीं उपज सकते। उन्हें एक जगह रखने का अर्थ है एक म्यान में दो तलवार रखना, हवा खाकर प्यास वुझाना है, विना घी-दूध के माड़े खा लेना है। 'सिंह' भूखों मर सकता है परन्तु घास नहीं खा सकता। ४२३४। उनका व्यवहार हाथी के दाँत है। कूवरी से उनका प्रेम, ईख छोड़कर अकि चूसना है।

हठयोग का प्रेमयोग से विनिमय का अर्थ होगा, मूली के पत्तों पर, मोती वेंच

---

१ झार झूर मन कन तो ले गए
वहुरि पियारहि गाहत
२ जुड़ात हियौ
३ जाहु जारहु न छाती
४ ज्यों जरे पर नोन
५ पोत सूतरी पोहत
६ घर-घर पार्यो गोल
७ भयो तेरहो मास
८ धुरहों तें खोटो खायो है।
९ गयौ तृन ज्यौं तोरि
१० वही जात माँगत उतराई
११ सूर वहुत कहे न रहे रस
गूलर को फल फारे

देना ४२८२ । हठयोग हमारे लिए एक गलत और अस्वाभाविक साधना है । उसके उपदेश का अर्थ है कच्चे धागे से लकड़ियों का गट्ठर बांधने का असफल प्रयास करना, या है कमलनाल के तंतुओं से मदमाते हाथी को बांधना । जहाँ तक हठयोग से कुछ पाने की आशा रखना है, वह स्वप्न में सम्पत्ति से विलसित होना है, उड़ती हुई चिड़िया को पकड़ना है, आसमान के तारे तोड़ना है, धूंए के मकान को पकड़ने का प्रयास करना है, ओलों की माला गूथना है, कागद की नाव से समुद्र तैरना है । ४६३७ । इनके विना हमारी स्थिति उजड़े गाँव की उस प्रतिमा के समान है जिसे न तो कोई पूजता है और न मानता है, और जब दोनों का मन मिल गया तो काजी क्या करेगा ? इस प्रकार की उक्तियों की झड़ी हमें अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों में मिलती हैं । नीचे अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त का अवतरण अवतरित है, इसका सन्दर्भ दूसरा है पर शिल्प एक है । सन्दर्भ है कि क्या मानव जीवन की सार्थकता विषय भोग में है ? कवि प्रश्न के नकारात्मक उत्तर में कहता है—

क चण कंडे जबुंउ बंधइ
मोत्तियदामे मंकडु वंधइ
खीलिय कारणि देउलु मोडइ
सुत्त णिमित्तु दित्तु मणि फोड़इ
कप्पूरायरु रुक्खु पिसुंभइ
कोहव छेत्तहु वइ पारंभइ
तिलखलु वयइ उहवि चंदनवतरु
विसु गेण्हइ सप्पहु ढोयवि करु
पीयइ कसणइ लोहिय सुक्कइं
तक्के विक्कइं सो माणिक्कइं
जो मणुयत्तणु भोएँ णासइं
तणे समाणु इणु को सीसइं

महापुराण १६ । पृ० २६९

अर्थात सोने की जंजीर से सियार बांधता है, मोती की माला से बन्दर बांधता है, कील के लिए देवकुल को तोड़ता है, सूत के लिए चमकते हुए मणि को फोड़ता है, कपूर के वृक्षों को काटकर खेत में बोना चाहता है। चन्दन वृक्ष को जलाकर तिल बोता है, हाथ में लेकर सांप का जहर ग्रहण करता है । और बेंचता है पीले, काले, लाल माणिक्य घाघ में । मनुष्य जीवन का भोग में बिता देना कुछ ऐसा ही है । सूर में इस प्रकार के प्रयोग प्रायः मिलते हैं जो अपनी सहजता और प्राकृतपन में वास्तविक अभिप्राय का बोध भलीभाँति करा देते हैं, सम्भव है, इस परम्परा ने यह शैली सूर को दी हो । परन्तु कुछ सामान्य वाक्य जिन्हें डा० वर्मा ने लोकोक्ति के रूप में उद्धृत किया है—

सूर कहा तिनकी संगति कीजै जो रहे पराए जाइ

या—जाकौ मन जासौं सोई ताहि सोहत
सूर सुवैद कहा लै कीजै कहै न जानै रोग

ये समान्य उक्तियाँ ही स्वीकार की जानी चाहिए, परन्तु कुछ आलोचक इनमें लोकोक्ति ढूँढने का प्रयास करते है। गोपियों की ब्रजलोक—संस्कृति में गहरी आस्था है जब वह कहता है "सो सपूत जौ परिवार चलावै" में 'परिवार चलाना' मुहावरा हो सकना है न कि लोकोक्ति।

अंतिम निष्कर्ष यह कि मुहावरालाक्षणिक क्रिया है, जो अन्य सामान्य क्रियाओं की तरह वाक्य में प्रयुक्त होकर अर्थ की प्रतीति कराती है। लक्षणा शक्ति में अन्त-र्भुक्त होने से भारतीय आर्यभाषा में मुहावरे के स्वतन्त्र नामकरण का प्रश्न नहीं उठता। क्रिया में लाक्षणिकता के कई कारण हो सकते हैं, अतः उन्हें गिनाना मुहावरे का क्षेत्र सीमित करना है। मुहावरा अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है, मुहावरे को इससे कुछ नही लेना-देना है कि हमारा दृष्टिकोण आदर्शवादी है या यथार्थवादी, हमारा कार्यक्षेत्र सीमित है या असीमित। वस्तुतः भाषा की वियोगात्मक स्थिति ही बहुत बड़ी इस तक, मुहावरों की प्रयोग बहुलता के लिए उत्तरदायी है। लोकोक्ति और मुहावरे मे भेद का कारण यह नहीं है कि एक पूर्ण वाक्य है, और दूसरा अपूर्ण वाक्य, एक सामान्य अनुभव है या दूसरा विशेष अनुभव, एक का सामान्य सन्दर्भ है या दूसरे का विशेष सन्दर्भ है या एक का स्वरूप अपरिवर्तनीय है दूसरे का परिवर्तनीय। एक में उद्देश्य विधेय होना है, दूसरे में उद्देश्य विधेय नहीं होता।

वस्तुतः लोकोक्ति लोक की वह उक्ति है जो किसी घटना, अनुभव, दार्शनिक विश्वास या प्राकृतिक क्रिया के कारण लोकमानस के अनुभव को व्यक्त करती है, लोकोक्ति मे उसका निचोड़ होता है जिसके लिए उक्ति गढ़ी जाती है। लोकोक्ति का अभिधेय क्षेत्र सीमित होता है पर अपने लक्ष्यार्थ में बहुत व्यापक हो उठती है। उदा-हरण के लिए " नाच न आवै आँगन टेढ़ा " का नृत्य क्रिया से सम्बन्ध है परन्तु लोकोक्ति के रूप में उसके लक्ष्यार्थ की परिसीमाएँ बहुत दूर तक हैं। मुहावरा विशुद्ध रूप से अभिव्यक्ति को निखारता है और अर्थवत्ता को मूर्त ही नही करता उसमें प्राण फूँक देता है। लोकोक्ति लेखक—अनुभव को समर्थन देती है और मुहावरा उसकी अभिव्यक्ति को सबल बनाता है। सूर का कवि इस तथ्य से परिचित है और उसने दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए दोनों से काम लिया है।

++++++++

९ | चरित्र - चित्रण

हिन्दी के मध्ययुगीन भक्ति काव्यों की मुख्यतम विशेषताओं में से एक है चरित्र की दुहरी अवतारणा भक्ति-काव्य होने की इस शर्त को 'सूरसागर' भी पूरी करता है। सूरसागर के पास टाइप या प्रतीक है। प्रतीक निर्वाह में हिन्दी का सगुण भक्त कवि निर्गुण कवि को भी मात दे देता है, फिर भी लौकिक सीमाओं के कारण उनका चित्रण इतना स्पष्ट होता है कि वे सहसा रहस्यमय लोक बाह्य या एकांगी प्रतीत नहीं होते। सगुण धारा के दो प्रमुख कवि तुलसी और सूर के काव्यों के चरित्रों में यह दुहरा चरित्र देखा जा सकता है अत: उनके चरित्र-चित्रण के संबंध में इन दुहरी सीमाओं को भूल जाना, कई भ्रान्तियों को जन्म दे सकता है, देता भी रहा है। मानस और सूरसागर अपने शिल्पगत वैविध्य के बावजूद चरित्र-चित्रण में एक ही लीक पर चलते हैं। यद्यपि एक में कथा में गीत हैं जब कि दूसरे में गीतों में कथा। दोनों के चरित्रों में एक अन्तर यह भी है कि 'मानस के पात्रों की एतिहासिकता और लौकिकता जितनी सिद्ध है, 'सागर' के पात्रों की उतनी ही असिद्ध और संदिग्ध। इसके अतिरिक्त परम्परागत चरित्रों को भी सूर का कवि नया व्यक्तित्व देना चाहता है। उदाहरण के लिए राधा और कुब्जा की कहानी एक विवादभरी कहानी है, परन्तु सूर ने उसे नये परिवेश के अनुरूप एक दम नया व्यक्तित्व दिया है।

श्रीकृष्ण

श्रीकृष्ण का चरित्र सूरसागर का एक सिद्ध और केन्द्रीय चरित्र है, जिस पर दूसरे चरित्रों की सार्थकता निर्भर करती है। कृष्ण के चरित्र के कई संदर्भ हैं और इन सब संदर्भों का समावेश सूरसागर में है, यह होते हुए भी सूर का कवि इन्हें अपने भक्तिवादी दृष्टिकोण से देखता है। दूसरे शब्दों में, श्रीकृष्ण के चरित्र की नियति कवि के दृष्टिकोण से बंधी हुई है। कृष्ण का यह समूचा चरित्र उनकी लीलाओं में व्याप्त है, ये लीलाएँ दो प्रकार की हैं कुछ हैं पौराणिक या अप्राकृत और कुछ हैं मानवीय। सूर का काव्य जब पौराणिक घटनाओं के संदर्भ में कृष्ण के चरित्र का स्पर्श करता है तो उसमें वर्णन की सहजता के साथ, उसका भक्ति भाव भी समाहित रहता है। लगता यह है कि पौराणिक घटनाओं में कवि अपने नायक चरित्र की खोज

नहीं कर रहा है फिर भी परम्परागत प्रतिवद्धता के कारण यद्यपि उनका चित्रण करने के लिए वह वाध्य है।

यथार्थ में देखा जाय तो सूर के कृष्ण के चरित्र का वास्तविक परिवेश—उनकी मानवीय लीलाएँ हैं— जो गोकुल से लेकर वृंदावन तक फैली हुई हैं। सूर का कवि अपने नायक के चरित्र को चित्रित करना चाहता है सहज मानवीय और प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर। ये लीलाएँ ही वे रेखाएँ है जो श्रीकृष्ण के चरित्र का अभिप्रेत चित्र अंकित करती हैं और ये लीलाएँ दसवें स्कन्ध में वर्णित हैं। जो सूर जैसे कवि की मौलिक सृजन का एक मात्र प्रमाण है और जो सूरसागर के दो चौथाई भाग को घेरता है— इस संदर्भ में कवि की उक्ति।

सूर कहत अब दसम कौ
उर धरि दूरि कौ ध्यान

श्रीमद्भागवत से अपना प्रस्थान भेद सूचित करती है। यदि ऐसा न होता तो कवि को अलग से उक्त प्रस्तावना की क्या आवश्यकता थी? इसका एक ही उत्तर हो सकता है कि कवि अपने मौलिक सृजन की और प्रेमाभक्ति की सम्पूर्णतम अभिव्यक्ति की सफलता की कामना कर रहा है और यह वहुत पहले ही कहा जा चुका है कि दसवें स्कन्ध की कथा उत्पाद्य कथा है। इसमे वह कृष्ण की जिन अप्राकृत घटनाओं का चित्रण करता है, वह परम्परा के कारण तो है ही, फिर भी कवि भक्तिपरक व्याख्या करता है लेकिन श्याम की जो लीलाएँ मानव मन को रमाती ही नहीं, वल्कि उसकी अपनी हो जाती हैं, जिनमें प्रणय वियोग मिलन के विवादी स्वरों की अनुगूंज मन को आंदोलित करती है, वे मानवी लीलाएँ ही हैं।

कतिपय आलोचकों ने श्रीकृष्ण के चरित्र का विभिन्न शीर्षकों में विवरणात्मक चित्र दिया है। उसमें वहुत सा परम्पराभुक्त है, उनमें वहुत सी विशेषताएँ ऐसी हैं जो किसी प्राचीन भारतीय काव्यों के नायकों में देखी जा सकती है–जैसे सूर के श्याम सौंदर्य के सागर हैं, उनके अप्रतिम रूप को जो एक नजर देख लेता है उसका मुग्ध होकर रह जाना एक सामान्यतम प्रतिक्रिया हैं। लेकिन यह वात किसी भी प्राचीन काव्य-नायक के वारे में निर्विवाद रूप से कही जा सकती है और यदि यह कहा जाय कि सूर के कवि ने कृष्ण वात्सल्य, सख्य और दास्य भाव के आलंवन है वह नन्द-नन्दन है, वह अप्रतिम सौंदर्यशाली है, अत्यन्त चंचल किशोर और विनोदी है, उम्र के साथ उनकी चंचलता वढ़ती जाती है तो इसमे नया कुछ भी नहीं। यह वात अवश्य उल्लेख्य है कि गोपाल रूप में कृष्ण का चरित्र अधिक स्पष्टता से उभर कर हमारे सामने आता है। यौवन लीलाओं में वह रसिकराज और शृंगार शिरोमणी है, परन्तु वियोग में निष्ठुर और नीरस जवकि अपने पौराणिक परिवेश मे वह असुर-संहारक और भक्तों के उद्धारकर्त्ता है।

परन्तु सूर के हृदय से पूछिए तो उनके कृष्ण का चरित्र है यशोदा की गोद में और उसकी चोरियों में। यशोदा की सूनी गोद भर गई, उसमे वढ़कर उनकी प्रसन्नता

क्या हो सकती है ? पर छोटे से बालक को जिन दैविक घटनाओं का सामना करना पड़ता है उससे बढ़कर उसकी चिंता भी और क्या हो सकती है ? अतिप्राकृत और प्राकृत के बीच कृष्ण का बालचरित्र विकसित होता रहता है।

सूर के श्याम के चरित्र के सबसे सुन्दर चित्र है जिनमें उनके मन की सहज क्रियाएँ अंकित की गई हैं। **'मैया कबहुँ बढ़ैगी चोटी; 'मीठौ लागत किधौं यह खाटौ; देखत अतिसुन्दर यह लागत'; 'मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायौ'** आदि गीत पंक्तियाँ ऐसे शब्द चित्र हैं। इन चित्रों में मानव मन की सहज मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अंकित है। मनुष्य की परिस्थितियाँ अलग-अलग हो सकती हैं, परन्तु मन की समस्या एक है। कृष्ण के बाल-चरित्र का दूसरा उल्लेख्य पहलू यह है कि बालक कृष्ण की मूलचेतना विद्रोही चेतना है। सूर के कवि ने अपने नायक के द्वारा उन पूजाविधियों और परम्परागत मूर्तविश्वास का प्रत्याखान करा दिया है जो प्रेमाभक्ति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधाएँ थीं। पांडेय जी अतिथि बनकर आते हैं और ठाकुर को भोग लगा देते हैं, परन्तु कृष्ण का काम है कि दरबार भोग को झूठाकर देना। मां इसे श्याम की **'अचगरी'** समझती है और बच्चे को डाँटती है; बालक का उत्तर है—

> **जननी दोष देती कत मोकौं बहुध्यान करि ध्यावै**
> **नैन मूँदि कर जोरिमान लै बारहिं बार बुलावै**
> **कवि अंतर क्यों होइ भक्त सौं जो मेरे मन भावै**

शालिग्राम की पूजा करते हुए नन्द को भी इसी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। नन्द एक ओर श्याम को अपना आराध्य मानते हैं और दूसरी ओर शालिग्राम की पूजा करते हैं। परम्परागत रूप धार्मिक अनुषंगों के विरुद्ध यह क्रान्ति चेतना 'इन्द्रपूजा' या 'वरण पूजा' के संदर्भ में भी देखी जा सकती है। अप्रत्यक्ष रूप से इन लीलाओं में सूर का कवि प्रेमाभक्ति के प्रसार के लिए एक मनोवैज्ञानिक भूमिका तैयार करता चलता है।

अभी तक कृष्ण की बाललीलाओं का क्षेत्र घर रहा है और नन्द यशोदा उससे प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। माखन चोरी से लीलाओं का क्षेत्र घर से बाहर है और उनका सीधा सम्बन्ध गोपियों से है। सारी लीनाएँ प्रतीक रूप में है। इनके द्वारा भिन्न-भिन्न विशेषताओं को दिखाना कवि का उद्देश्य है। पहली माखन लीला में श्याम एक ग्वाल ग्वालिनी के घर है, कटोरी में से माखन खा रहे हैं, सामने मणिमय खम्भे में भी अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर बालक समझता है कि चोरी में उसे साथी मिल गया है, वह उसे माखन खिलाता है—

> **प्रथम आज मैं चोरी आयो भलो बन्यो है संग**
> **आपु खात प्रतिबिम्ब खबावत गिरत कहत का रंग**
> **तुम चाहौ सब देऊं कमोरी अति मीठौ कत डारत**
> **तुमहिं देत मैं अति पायौ तुम जिय कहा विचारत**

घर की मालकिन इस घटना का कई जगह उल्लेख करती है। **वह समझ रही**

है उसके बराबर बड़भागन दूसरी नहीं है। एक दूसरी चोरी में बालक पकड़ लिया गया है, पर वह बात बनाता है कि मैं अपना घर समझकर चला आया हूँ। इधर गोरस में चींटी देखी, उसे निकाल रहा हूँ। गोपियाँ मुग्ध होने के सिवाय क्या कर सकती हैं। उनका मन श्याम में अटक रहता है और अटकाव की यह प्रतिक्रिया होती है कि बेचारी यशोदा को नित नई शिकायतें सुनने को मिलती हैं। लीलाएँ गोकुल से वृन्दावन पहुँचती हैं, लीलाओं के क्षेत्र के विस्तार के साथ उनकी लीलाओं का रूप बदलता है। गोचारण में 'मुरलिया' से उनका साथ हो चुका है। उनके सौन्दर्य की विविध प्रतिक्रियाएँ गोपियों में होती हैं। राधा आकर कृष्ण के चरित्र को एक विशिष्ट सन्दर्भ में विकसित होने के लिये बाध्य करती है यह स्वीकार करना चाहिए कि प्रेम के क्षेत्र में पहली पहल श्याम की है। इस प्रेम में कहीं कोई प्रतिरोध नहीं है। राधा का अधिकार बढ़ता जा रहा है। श्रीकृष्ण गोवर्धन आदि लीलाएँ श्रीकृष्ण के विशिष्ट दृष्टिकोण को बताने के लिए लीलाएँ हैं।

कालिया-दमन और गोवर्धन-धारण की लीलाओं में कृष्ण का जो चरित्र उभरकर आता है वह आश्वस्त होने के लिए पर्याप्त है कि कृष्ण के लिए विश्व में अब कुछ भी असम्भव नहीं। प्रेमी जीवन की पूर्णता देखी जा सकती है, रासलीला और होली के सामूहिक गीत 'झूमर' में। कृष्ण का यह पूर्व चरित है, उनका उत्तर चरित माना जा सकता है अक्रूर के साथ उनके मथुरा प्रवास से। मथुरा से द्वारिका तक उनका जीवन घटनाओं से भरा हुआ है, पर कवि के दृष्टिकोण से उनके चरित्र की अन्तिम परिणति वियोग में है। वियोग की स्थितियों में उनका चरित्र अप्रत्यक्ष रूप से चित्रित है, वियोगिनी गोपियाँ प्रतिक्रियाओं का अन्य दूसरे सन्दर्भों से ही वे माध्यम हैं जो उनके चरित्र की झलक देते हैं। इस प्रकार कृष्ण का जीवन सफल है और चरित्र सिद्ध। उनके जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि यही है कि उन्हें अपने अतिप्राकृत और प्राकृत जीवन में कहीं भी असफलता नहीं देखनी पड़ती अपनी ओर से उन्हें कोई सफाई नहीं देनी पड़ती। उनसे सब आश्वस्त हैं उनका किसी से आश्वस्त होने का प्रश्न ही नहीं है। डा० वर्मा ने कृष्ण का जो विशाल चित्र दिया है, उसका निम्न अवतरण अधिक वास्तविक है—

'कवि कल्पना के कृष्ण सदैव सुन्दर सुकुमार कोमल मधुर विनोदी चंचल रसिक क्रियाशील गतिमान और अद्भुत लीलाधारी हैं। कवि ने कृष्ण का एक भी चित्र ऐसा नहीं दिया जो उनकी कोमलता, सुकुमारता और अभिनव सुन्दरता का व्यञ्जक न हो।

उद्धव

उद्धव का व्यक्तित्व एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। उसके चरित्र का एक निश्चित संदर्भ और प्रयोजन है। उनमें चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह भ्रमर गीत की उत्तेजक और भावात्मक परिस्थितियों के जनक हैं। उनका चरित्र नया नहीं है, परन्तु भ्रमर-गीत में उसकी भूमिका नई है। सूर के कवि को हठयोग साधना

और निर्गुण भक्ति के ऊपर प्रेमाभक्ति की विजय दिखानी थी। इसके लिए ऐसा चरित्र चाहिए था जिसकी वलि की जा सकती। उद्धव इसी भूमिका को निभाते हैं।

उद्धव श्रीमद्भागवद् में भी सन्देश-वाहक का काम करते हैं। उसमें वह गोपियों को ज्ञानवाद और अद्वैतवाद में दीक्षित करने में सफल हो जाते हैं। परन्तु भ्रमरगीत में गोपियाँ भागवत में हुई अपनी हार का वदला ले लेती हैं।

श्री कृष्ण उद्धव को वृंदावन इसलिए नहीं भेजते कि वह उनके वचपन और अव्ययन के साथी हैं वरन् इसलिए कि वह एक ज्ञानी व अद्वैतवादी के रूप में उनके लिए सर दर्द हैं। एक पंथ और दो काज। रोज की माथा-पच्ची से पिंड छुड़ाना और उद्धव के दंभ को गोपियों के हाथ से चूर-चूर करा देना।

उद्धव अपनी दार्शनिक उपलव्धियों और मान्यताओं में महान हो सकते हैं लेकिन वे जानते हैं कि उनकी सीमाएँ क्या हैं। जहाँ तक नंद और यशोदा का सवाल है, उद्धव उन्हें सीधी सच्ची वात वताते हैं कि दोनों भाई आपकी याद करते हैं दो चार दिन में वे आने ही वाले हैं। उन्हें डर था राधा अवेरे सवेरे आकर उनके खिलौने न उड़ा ले जाय। उनका यह भी कथन है कि आप दोनों से विछुड़ने के दिन से सुख और आत्मीयता नहीं मिलती और न आप लोगों ने उनकी सुध ली।

गोपियों के पूछने पर उद्धव वात वदल देते हैं। उद्धव पहले कंस वध से लेकर उग्री सेन के राज तिलक तक की घटनाएँ सुना चुकते हैं फिर कहते हैं—

मोहि यहि पाती दई लिखि कह्यौ कछु संदेश।
सूर निर्गुन ब्रह्म डर धरि तजहु सकल अंदेश।।

उद्धव का इतना कहना काफी था, समुद्र में कंकड़ डालकर उन्हें लहरे गिननीं थीं। गोपियाँ भी भरी वैठी थीं। थोड़ी ही देर में एक भ्रमर भी आ जाता है, यहाँ भी पिछली वात की पुनरावृत्ति होती है और उनसे कहा जाता है तत्व ज्ञान से ही मुक्ति संभव है। विरह से तिरने का भी वही एकमात्र उपाय है। गोपियाँ इसके प्रति उत्तर में वहुत कुछ कहती हैं उनकी वातों से उद्धव के व्यक्तित्व पर प्रकाश नहीं पड़ता। यदि हम गोपियों की उक्तियों से कुछ निष्कर्ष निकालना भी चाहें तो वह यह कि वह कठोर और हृदय शून्य कूटनीतिज्ञ और परहित के नाम पर अपना स्वार्थ साधने वाले है, वह उनके व्यक्तित्व से नहीं, वल्कि उनके विरोधी दृष्टिकोण से। गोपियाँ ईट का जवाव पत्थर से देती हैं, उनकी तुलना में उद्धव की वाणी शांत संयत और तत्व की निरपेक्ष भाव से प्रतिवादन करने वाली है फिर भी उद्धव जो गोपियों से हार मानते हैं वह उनके तर्कों से नहीं वरन् उनकी भक्ति निष्ठा से। जैसा कि स्वयं उद्धव की उक्ति है—

मैं ब्रजवासिनी की वलिहारी
जिनके संग सदा क्रीडत हैं श्री गोवर्धन धारी

सच तो यह उद्धव को जिस भूमिका का निर्वाह करने के लिए विवश होना पड़ा है, वह आरोपित था।

नंद

नंद का चरित्र सीमित और सीधा है। उनके चरित्र को छूने वाले संदर्भ वहुत

कम हैं। वह कुल मिलाकर हमारे सामने तीन-चार बार सामने आते हैं। एक यशोदा के साथ कृष्ण की बाल लीलाओं के आनन्द के, यशोदा के साथ सहभोगी हैं। फिर वह कृष्ण के ब्रज प्रवास में उनके साथ जाते हैं। वह अपनी बिलखती पत्नी यशोदा को यह विश्वास देते हैं कि वह काम पूरा होते ही श्याम को ले आयेंगे, परन्तु मथुरा से वह खाली हाथ लौटते हैं। यह बात नहीं कि वह कृष्ण से वृंदावन वापस चलने का पुरज़ोर अनुरोध नहीं करते परन्तु वह कहते हैं—

गोकुल ताइ हौं न चरन तजि जैहों
तुमहि छाँड़ि मधुवन मेरे मोहन कहाँ जाइ ब्रज लैहों
कैहों कहाँ जाइ जसुमति सौं जब सम्मुख उठि ऐ हैं ?

स्पष्ट है नंद के मन मे कृष्ण के लिए अगाध प्रेम और आकर्षण है, परन्तु यशोदा के तारतम्य में कुछ कमी है कृष्ण के बिना एक बार वह जा सकते हैं परन्तु डर यह है कि यशोदा क्या करेगी ?

यशोदा की तरह नंद का चरित्र भी कृष्ण प्रेम के संदर्भ में चित्रित है। नंद के चरित्र मे हम दो समानान्तर विशेषताएँ पाते हैं एक तो उनमें कृष्ण के प्रति अत्यधिक प्रेम है जैसे कृष्ण को बालक रूप में पाकर वह प्रसन्न हैं, उनकी बाल लीलाओं में समान रूप से रस लेते हैं। दाम्पत्य जीवन का केन्द्र-बिन्दु कृष्ण हैं। विरह घटना की बात सुन कर वे मूर्च्छित हैं और जब वृन्दावन वापस आते हैं लड़खड़ाते हुए गुमसुम और वृन्दावन आकर वह अपनी भूल पर पछताते हैं। यह इस बात से ही जाना जा सकता है कि उनके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उन्हें समझ ही नहीं पड़ता कि वह क्या करें और हम पाते हैं कि यद्यपि नंद में कृष्ण प्रेम की कमी नहीं फिर भी उनके चरित्र मे एक और विशेषता यह है कि उनमें कुछ दूसरे विश्वास भी समानान्तर भाव से हैं— जैसे कृष्ण से प्रेम होते हुए भी, वह ठाकुर की पूजा करते हैं। कृष्ण उनके शालिग्राम को उठा ले जाते हैं। ध्यान-मग्न नंद को इसका पता ही नहीं लगता। 'शालिग्राम—अपहरण-प्रसंग' का यही महत्व नहीं है कि कृष्ण अपने चातुर्य और चमत्कार से सरल स्वभाव को चमत्कृत कर देते हैं, बल्कि इसमें हम जान सकते हैं कि नंद कृष्ण के वास्तविक रूप को जानते हुए भी व्यवहार में उस पर उनकी आस्था भटक जाती है और वह विकल्प में पड़ जाते हैं। यह तथ्य इन पंक्तियों में स्वयं स्पष्ट है—

हंसत गोपाल नंद के आगें नंद स्वरूप नहि जान्यौ
निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलापर सोई सुत करि मान्यौ

यह तथ्य इन्द्र-पूजा प्रसंग में भी प्रकट होता है। कृष्ण इन्द्र-पूजा का विरोध करते हैं जब कि परम्परा के नाम पर नंद के लिए यह लोक-पूजा है और वह उसका समर्थन करते हैं। नंद यह अब तक नहीं समझे कि कृष्ण भक्ति परम्परागत विश्वासों के प्रति एक क्रांति है। वह वैदिक देवताओं की अर्ची-पूजा को अस्वीकार करके चलती है, नंद कहते हैं— नंद कह्यौ घर जाहु कन्हाई

ऐसे में तुम जाहु कहूँ जनि अहो महरि सैत लेहु बुलाई

इन्द्र पूजा में गोवर्धनधारी रूप को देकर यद्यपि नन्द को कृष्ण की सम्पूर्ण सत्ता का बोध हो जाता है और वह अपने इसी बोध के विश्वास पर वह यशोदा को आश्वासन देते हैं कि कृष्ण वापस आ जायेंगे। नन्द की असली कठिनाई यह है कि श्याम के स्वरूप को समझकर भी वह उनकी भक्ति के वास्तविक रूप को तब भी नहीं समझ पाते। यथार्थ में वह ज्ञान मूलक भक्ति के प्रतीक हैं और उनके बारे में यह कहना समीचीन नहीं है कि पुरुष स्त्री के स्वभावों के अनिवार्य अन्तर के साथ नन्द और यशोदा के चरित्र में अधिकांश समानता है। इसके विपरीत यह कहना ज्यादा समीचीन है कि पुरुष और नारी के प्राकृतिक अन्तर के सिवाय नन्द और यशोदा के चरित्र में अधिकांश समानता होते हुए भी एक आधारभूत अन्तर है। यह अन्तर नन्द की अपनी भूलों की स्वीकृतियों में देखा जा सकता है—

चूक परी हरि से ढकाई
यह अपराध कहाँ कौं बरनौं कहि कहि नन्द महरि पछताई

नन्द की यह चूक एक अनायास या आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि उनके दृष्टिकोण की है। यह बात नहीं कि कृष्ण की समीपता या दूरी की तीव्रतम प्रतिक्रिया उनमें नहीं होती, परन्तु नन्द विवेक या ज्ञान का विकल्प स्वीकार कर लेते हैं जब कि यशोदा एकरस रहती हैं।

यशोदा

सूरसागर के नारी चरित्रों में राधा के बाद यदि कोई महत्वपूर्ण नारी चरित्र है तो वह है यशोदा ! अपने वास्तविक संदर्भ में वह वात्सल्यमूलक प्रेमाभक्ति की साधिका है। वह व्रज के सबसे सम्भ्रान्त व्यक्ति नन्द की पत्नी है। वह सचमुच भाग्यशालिनी हैं कि उसे श्याम जैसा लोकश्रुत प्रतापी पुत्र मिला है। यद्यपि वह जानती है कि वह उनकी कोख से नहीं जन्मे फिर भी कृष्ण के प्रति समग्र भाव से समर्पित उनके चरित्र की सबसे बड़ी बात यह है कि वह हर क्षण आशंका से घिरी रहती है। घटना छोटी हो या बड़ी वह यशोदा को आशंकित करने के लिए पर्याप्त है। उसका भोलापन और सरलता इसी आशंका में से सबसे पहले उभरकर आती है। वह श्याम को पलने में झुलाते और लोरियाँ गाते हुये हमारे सामने आती है। वह नींद को निमंत्रण देती हैं कि वह आए और उसके श्याम की प्रतीक्षित पलकों को भरले। उसकी खुशी आशंका में बदल जाती है जब वह श्याम को पूतना के उर पर पय पान करते, देख लेती हैं। वेदना से व्याकुल वह सुधबुध खो बैठती है —

जसुमति विकल भई छिन कलना
लेहु उठाई पूतना उर से मेरो सुभग सांवरो ललना

बालक श्याम की नित नई और अनोखी लीलाएँ (जो लीलाओं से अधिक क्रीड़ाएँ हैं) यशोदा के क्षण-क्षण को आनन्द विभोर रखती हैं। उनका प्रत्येक पल कल्पना और सपनों में डूबा रहता है—

नन्द घरनी आनन्द भरी सुत स्याम खिलावै
कबहुँ घुटुरुवनि चलहिंगे कहि विधिहिं मनावै
कबहुँ दँतुली द्वै दूध की देखौं इन नैननि

कभी घर काज मे इतनी उलझ रहती है कि वालक की उपेक्षा के लिए उसे लताड़ सुननी पड़ती है—

भल नहीं यह प्रकृति जसोदा छाड़ि अकेलो जाति
गृह कौ काज इनहूँ ते प्यारो नेकहुँ नाहिं डराति

वालक चलना सीख रहा है। माँ मनुहार कर रही है खीझती है और रीझती है। वालक कभी ऐसी माँग कर वैठता है कि माँ के पास उसकी पूर्ति का कोई साधन नहीं। वह झूठ का सहारा लेती और जल में प्रतिविम्वित चाँद वालक को दिखाकर उसे शांत करती। स्तन-पान छुड़ाना भी उसके लिये कठिन समस्या है—

श्याम अव वड़े भये तुम कहि स्तन पान छुड़ावत
व्रज लरिका तोहि पीवत देखत हंसत लाज नहिं आवत
जैहैं विगर दाँत ये अच्छे तातें कहि समुझावति

रात को सोते में वच्चे का चौंककर उठना और मां का 'राइलोन' उतारना-भारतीय माताओं की चिरपरिचित प्रतिक्रिया है। यशोदा की कठिनाई दुहरी है। एक ओर वह उन सारे आरोपों को अस्वीकार कर देती हैं जो उसके श्याम पर अरोपित हैं, दूसरी ओर उसे सुनने को मिलती हैं उपालम्भ उक्तियाँ और शिकायतें। श्याम की यह सफाई लाखों में एक सफाई है—

मैया मोरी मैं नहिं माखन खायो
ख्याल परै ये सखा सवै मिलि मेरे मुख लिपटायो

यहाँ तक तो उसकी वात मान ली जाती है पर जव वह कहते हैं—

देख तुहीं सीके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायौ
हूँ जो कहत नान्हें कर अपनो मैं कैसे करि पायौ
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीनी दोना पीठि दुरायौ
डारि सांठा मुसकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायौ

तो कौन विश्वास नहीं करेगा कि श्याम रंगे हाथ पकड़े गये हैं, पर मां तो अस्वीकृति के भोलेपन पर ही मुग्ध है। वह सोंटा फेंक देती है। जव मनुष्य अपने अभियोग का 'हाँ' या 'न' में उत्तर देकर तर्क और परिस्थितियों का सहारा लेता है तो अपने दोष की यह प्रत्यक्ष अस्वीकृति ही प्रकारान्तर से उसकी अप्रत्यक्ष स्वीकृति है। कुछ भी हो कृष्ण को मां का पूरा संरक्षण प्राप्त है।

गोचारण लीला में यशोदा का चरित्र अधिक सक्रिय हो उठता है जैसे वन से लौटे थकेमांदे वालक को गोद में उठा लेना; यह देखकर उसका मन-ही-मन खुश होना कि श्याम उसके लिए वन से फल तोड़कर लाए हैं। वह इस वात को कहने से नहीं चूकती कि वह वच्चे को मन वहलाने के लिए भेजती है न कि गाय चराने के लिए—

मैं पठति अपने लरिकाकौ आवे मन बहराइ
सूर स्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिगाई

यशोदा के चरित्र का एक महत्वपूर्ण संदर्भ है राधा-कृष्ण की प्रणयलीला। इस संदर्भ में उसके चरित्र में जिस मोड़ की संभावना थी वह भी नहीं रहती, क्योंकि कृष्ण को अपनी प्रणय-लीला में उसकी स्वीकृति पहले से ही उपलब्ध है और वह दोनों की जोड़ी के लिए प्रभु से प्रार्थना करती हैं। यहाँ प्रश्न यह है कि वह जो श्याम की हर प्रणय-चेष्टा को स्वीकृति दे देती हैं—उसे क्या कहा जाय, यह उसकी सहज सरलता है या समर्पित ममता, जैसा कि डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा कहते हैं—"वह कृष्ण के विषय में अपना मत ही बदलना नहीं चाहतीं, प्रतिदिन की बालचर्या में उसे अविश्वास ही नहीं, वह इतनी सीधी है कि उसे यह ध्यान ही नहीं रहता कि लोग उसके व्यवहार का कुछ अर्थ लगा लेंगे।" पर क्या यह यशोदा का मात्र सहज सरल विश्वास है या कि कुछ और ? मेरे विचार में यह उसका अपनी चेतना से उत्पन्न सहज विश्वास कदापि नहीं माना जा सकता, यह उसका एक समर्पित विश्वास है, अर्थात् वह जीवन के संघर्ष से उद्भूत विश्वास नहीं है वरन् समर्पित विश्वास की सहजतम प्रतिक्रिया है। उसे जो मातृत्व सौंपा गया है उसे तो निबाहना ही होगा, वे आक्रोश असूया या उपालम्भ की जितनी भी मानसिक स्थितियाँ उसमे उत्पन्न होती है वे नंद या देवकी को लेकर 'श्याम' के कारण नहीं।

उसके चरित्र का पांचवाँ संदर्भ है श्याम की अतिप्राकृत लीलाएँ जिनमें यशोदा की वेदना विह्वलता का रूप ले लेती है। 'कालियादह' जैसी घटनाओं में उसकी व्याकुलता अपने उच्चतम बिंदु पर होती है। इसी मानसिक द्वन्द्व की स्थिति में अक्रूर के साथ श्याम की विदाई का प्रसंग उपस्थित है। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं—

धरनि परत सुनत यह बानी बिवस जसोदा रानी

चैतन्य लोप होने पर वह फिर व्याकुल हो उठती हैं कि ब्रज मे कोई भी उसका कल्याण चाहने वाला नहीं। वह बार-बार कहती हैं—

है कोऊ ब्रज में हितू हमारो चलत गुपालहिं राखै

वह अपने लाल को रोकने के लिए सब कुछ निछावर करने को तैयार हैं—

बरु यह गोधन हरौ कंस सब मोहिं बंदि लै मेलौ
इतनाई सुख कमल नयन मेरो अँखियन आगैं खेलौ

नंद उसे आश्वस्त करते हैं—

भरौसा कान्ह कौ है मोहिं
सुनहि जसोदा कंस नृपति भय तू जनि व्याकुल होहि

नंद के खाली हाथ लौटने पर, जसोदा उनके आश्वासन की यह दुर्गत करती हैं—

उलटि पग कैसे दीन्हौं नन्द
छांड़े कहाँ उभै सुत मोहन धिक जीवन मति मंद

वह समझती हैं कि नंद कृष्ण-वियोग की बधाई देने आए हैं। गोपियाँ और

सखियाँ जले पर नमक छिड़कती हैं यह कहकर कि यशोदा के मार से ही श्याम मथुरा चले गए 'तब तू मारबोई करत ।'

इसकी प्रतिक्रिया है यशोदा का चरम आक्रोश—

नंद ब्रज लीजौ ठोकि बजाइ
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ

उनका वात्सल्य अस्तित्व-बोध की सभी सीमाओं को लांघ जाता है—

दासी ह्वै वसुदेव राइ की दरसन देखत रैहौं
राखि राखिएत दिवसनि मोहिं कहा कियौ तुम नीकौ
सोऊ तो अक्रूर गए लै तनिक खिलौना जी कौ
मोहिं देखिकैं लोग हसैंगे अरु किहं कान्ह हंसै
सूर जाइ असीस जाइ जनि न्हातहु वार खसै

यशोदा के मातृत्व की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है । वह देवकी को भी अपनी स्थिति बता देती हैं—

संदेशो देवकी सौं कहियौ
हौं तो धाय तुम्हारे सुत की दया करत ही रहियौ

अपनी स्थिति का परिचय देते हुए भी यशोदा यह भी बता देती हैं कि उसकी स्नेहछाया के बिना कृष्ण के बचपन की कल्पना नहीं की जा सकती थी और यह भी कि उसके बिना श्याम के स्वच्छ और निःसंकोची सुखी जीवन की कल्पना अब भी नहीं की जा सकती । इस प्रकार यशोदा के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं । एक है-श्याम की सहज मानवी लीलाओं के सन्दर्भ में उसके चिताव्याकुल ममताभरे क्षण । दूसरा है—अति प्राकृत लीलाओं के संदर्भ में आशंका भय और व्यग्रता से घिरे क्षण । कुल मिलाकर वह इस भावना में अपने अस्तित्व की सार्थकता मान लेती है कि कृष्ण उसके हैं, उनसे वह प्यार भर करना चाहती है । अनुशासन करना उसके मातृत्व को याद नहीं । यशोदा का चरित्र, घटनाओं में नहीं प्रतिक्रियाओं मे व्यक्त हुआ है । वह अच्छी तरह जानती हैं कि उनके चरित्र की क्या सीमाएँ हैं । उनके चरित्र के संबंध में एक सूर-विशेषज्ञ का कथन है "यशोदा के चरित्र में स्नेहशील त्यागमयी सरल प्रकृति माता का पूर्ण चरित्र चित्रित किया गया है" परन्तु उनके चरित्र की यह विशेषता भी याद रखने योग्य है कि उनका चरित्र एक समर्पित चरित्र है और उनका त्याग और शील कुछ विशिष्ट सदर्भों तक सीमित है । अततः इन सदर्भों का वास्तविक मूल्यांकन भी कवि कर देता है अर्थात् उनका चरित्र उपेक्षित नहीं है, एक भावात्मक संघर्ष को छोड़कर और कोई संघर्ष उनके चरित्र मे नहीं है । यह भावात्मक संघर्ष है कृष्ण की अनुपस्थिति या वियोग परन्तु उसकी क्षति पूर्ति कवि की ओर से दो बार कर दी गई है एक तो तब, जब उद्धव के प्रतिवेदन पर कृष्ण कहते हैं—

अनगन भांति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाही

और दूसरे तब, जब सूर्य ग्रहण के समय कुरुक्षेत्र में श्री कृष्ण का सबसे मिलन होता है और वह कहते हैं—

हौं यहां तेरे हि कारण आयौ
तेरी सौं सुनि जननी जसोदा
इतौ हमारौ राज द्वारिका
मौं सो कछु न भायौ

यह सुनकर यशोदा आश्वस्त हुई या नहीं इसका कोई संकेत कवि नहीं देता, परन्तु कृष्ण के कथन से यह अवश्य लगता है, 'आत्मीयता' की तुलना में बड़ी से बड़ी भौतिक उपलब्धि भी कुछ भी नहीं, यशोदा इसी आत्मीयता की प्रतीक हैं।

राधा

श्रीकृष्ण की मानवीय लीलायें; जिस वृत्त की परिधि हैं, राधा का व्यक्तित्व उसी केन्द्र में है। राधा, कृष्ण के व्यक्तित्व की पूरक भी है, और पूर्णता भी। पौराणिकता और इतिहास की गरिमा भी कृष्ण के व्यक्तित्व के जिस अभाव को नहीं भर पाती, उसे भरती है— राधा। कृष्ण की सगुण साकार उपासना के लिये यह आवश्यक था कि वह निर्गुण सगुण बनता और सगुण साकार फिर सगुण साकार विष्णु का कृष्णावतार होता, कृष्णावतार की पूर्णता के लिये एक ऐसी नारी की आवश्यकता थी जो सृष्टि की रचना के सन्दर्भ में प्रकृति की प्रतीक बन सकती और मानवी सन्दर्भ में उनकी लीलाओं का भार वहन कर सकती। श्रीकृष्ण के जीवन में वैसे स्त्रियों की कमी नहीं थी, पर उनमें से किसी को यही दायित्व सौंपा जाता तो उससे शायद दूसरी पत्नियों में व्यर्थ खींचतान बढ़ जाती, फलस्वरूप अवतारी कृष्ण का यह दायित्व निर्वाह करने के लिये, राधा को जन्म लेना पड़ा। दर्शन की परिभाषा में राधा प्रकृति की प्रतीक है और लोकलीलाओं के सन्दर्भ में कृष्ण की लीलासहचरी।

राधा का चरित्र, व्यक्ति नहीं, प्रतीक है और उसकी व्याख्या के कई सन्दर्भ हैं। ऐतिहासिक सन्दर्भ में वह अमीरों की प्रेम देवी है। जिसे कृष्ण गोपाल की एकीकरण प्रक्रिया में, उनकी जीवन संगिनी के रूप में स्वीकार कर लिया गया। पौराणिक सन्दर्भ में वह शक्ति की प्रतीक हैं, दार्शनिक सन्दर्भ में प्रकृति की प्रतीक हैं, मानवीय सन्दर्भ में कृष्ण की लीलासहचरी हैं, प्रेमाभक्ति के सन्दर्भ में वह अपनी साधना की साधिका हैं, सूर के कवि के सन्दर्भ में वह १३वीं ब्रज की मध्ययुगीन संस्कृति की प्रतिनिधि हैं। प्रतीक चरित्र होते हुये भी लोक सवेदना से शून्य नहीं हैं। समय के प्रवाह में तिरता हुआ उसका चरित्र अपनी सीमाओं में गतिशील चरित्र रहा है। इसलिये उसके विकास का ऐसा निश्चित स्रोत या सन्दर्भ बताना कठिन ही नहीं, असंभव है कि जो उसके चरित्र को पूर्ण विश्वसनीयता के साथ उद्घाटित कर दे।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह सच है कि मध्ययुगीन भक्ति सम्प्रदायों के अस्तित्व में आने के बहुत पहले राधा-कृष्ण लोकजीवन और काव्य में प्रतिष्ठित हो चुके थे। प्रारम्भ में कृष्ण और गोपियों की लीलायें सामान्य स्तर पर होती हैं, फिर वे विशिष्ट और व्यक्तिगत रूप ले लेती हैं। फिर ये लीलायें लोकजीवन से लोककाव्य में पहुंचती

हैं और तब भक्ति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का काम देती है। उसके बाद विभिन्न उपासना पद्धतियों के सन्दर्भ में उनकी अलग-अलग दार्शनिक व्याख्यायें की जाने लगती हैं। सूर ने जब अपने विश्वासों के अनुरूप राधा के चरित्र को शिल्पित करना चाहा तो इतिहास की राधा उनके सामने थी, और उन्होंने उसी में से लोक-संवेदना और मानवी स्वभाव के परिप्रेक्ष्य मे अपनी राधा की मूर्ति गढ़ दी।

राधा के ऐतिहासिक क्रम-विकास के अध्येता डा० शशिदास गुप्त ने राधा का बहुत कुछ विचार किया है। उनके अनुसार राधा प्रारम्भ में किसी मत या सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं है, ज्योतिष में विशाखा के बाद अनुराधा नक्षत्र आता है। अथर्ववेद में 'कृष्ण को रवि कहा गया है, जो रासलीला के केन्द्र में है; गोपियों की जगह उनमें तारायें हैं। स्त्रीलिंग होने से चन्द्रमा प्रतिनायिका है, अमावस की रात में सूर्य का चन्द्रमा से मिलना ही, कृष्ण का चन्द्रावली के कुंज में जाना है, वृषभानु वृषराशि में स्थित सूर्य है जो रश्मि है। चूंकि विष्णु का सम्बन्ध सूर्य से है और राधा की सखियों में विशाखा ही ऐसी सखी है जो सूर्य की विशेष उपासिका है, अतः विशाखा ही राधा है।

"राधा की ज्योतिष-परक व्याख्या इसलिए स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि वह 'राधा-कृष्ण' के प्रतिष्ठित हो जाने के बाद की है। वह एक अनुमानित विश्लेषण है, विकास की तथ्यपूर्ण रेखा नहीं।" इसके बाद कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख है। श्री मद्भागवत मे भी राधा नहीं है, एक विशेष गोपी है, जिसे दूसरी गोपियों की तुलना में विशेष स्थान प्राप्त है। पद्मपुराण नारद पाञ्चरात्रः, ब्रह्मवैवर्त पुराण में यद्यपि राधा का विशद् उल्लेख है, परन्तु अपने विशिष्ट सन्दर्भ में! परन्तु इन पुराणों में उपलब्ध राधा की व्याख्या को डा० दास गुप्त विश्वसनीय नहीं मानते, क्योंकि इनमें भी बाद के विचारों का विश्लेषण है। इन तथा अन्य आर्य स्रोतों के आधार पर यही माना जा सकता है कि राधा—गोपी भाव का पूर्णतम विकास है। विभिन्न साहित्य और अन्य उल्लेखों से यह सिद्ध है कि ईसा की आठवी सदी में राधा कृष्णलोक में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उनकी इस प्रतिष्ठा की ऐतिहासिक प्रक्रिया यह थी कि आभीरों के चरवाहा गीतों ने, (जिनका इन लीलाओं से संबन्ध था) उन्हें दूर-दूर तक पहुँचाया, उनमें वृन्दावन की लीलाओं का विशेष महत्व था, क्योंकि कृष्ण की जन्म-भूमि होने के नाते इन लीलाओं का वृन्दावन से घनिष्ठ संबंध था। इस प्रकार डा० दास द्वारा निरूपित राधा की विकास रेखा यह है कि पहले पहले चरवाहा के लोक गीतों में वह जन्मती है, फिर लीलावाद से सम्बद्ध होकर प्राकृतिक भूमिका से अप्राकृतिक भूमिका में प्रवेश करती है, जिसमें वह भारतीय प्रेमी कवि के परिपूर्ण नारी सौन्दर्य और प्रेम माधुर्य की प्रतीक बनती है, प्रेमी कवि के सौंदर्य की अरूप मानस-प्रतिमा का वह मूर्तरूप है। उसके बाद चैतन्य महाप्रभु और उत्तरकालीन बंगाली वैष्णव कविता में वह शक्ति और लक्ष्मी के सम्मिलित रूपों का प्रतिनिधित्व करने लगती है।

राधा आभीर जाति के गीतों मे कैसे आयी, इस सम्बन्ध मे डा० भांडार कर

का मत है कि—"वह आभीरों की इष्टदेवी थी और आभीर सीरिया से आये थे।" डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० भांडारकर के मत पर अपनी सहमति की मुहर लगाते हुये कहते हैं, "राधा आभीरों की प्रेम देवी रही होगी, उसका सम्बन्ध बालकृष्ण से था, सम्भवतः वह आर्यों की भी प्रेमदेवी थी।" डा० मुंशीराम शर्मा का विचार है कि राधा सांख्य दर्शन के प्रकृति तत्व की प्रतीक है। डा० गोपीनाथ कविराज का मत है कि सूफ़ियों के प्रेमदर्शन का मूल आधार शैव दर्शन है, जबकि कुछ और पंडित स्वीकार करते हैं कि राधा, बौद्धतंत्र शास्त्रों से आयी एक संभावना यह भी व्यक्त की जाती है कि राधा, कृष्ण को अपना उपास्य मानने वाले दक्षिण के उन आलवारों से आयी, जिनमें 'नथिवाई' नाम की एक विशेष गोपी के रूप में ईसा की ५ वीं से लेकर ७ वीं सदी तक स्वीकृत रही है।" मेरे विचार में ये सारे मत राधा के विकास की अनुमानित व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं। यथार्थतः राधा के अस्तित्व की अनिवार्यता तभी अनुभव में आई जब कृष्ण प्रेमाभक्ति के आलम्बन बने। भक्ति की दार्शनिक और पौराणिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राधा को आना ही था। कृष्ण, जब बाल गोपाल बने, तभी राधा की परिकल्पना सम्भव हो सकी। बालगोपालों का आभीरों से संबंध था, यह निर्विवाद है। वे इसी देश के थे या बाहर के इस विवाद से बचते हुये भी यह कहा जा सकता है कि आभीर, इस देश की पुरानी जाति हैं। लेकिन डा० द्विवेदी का यह अनुमान तर्क और तथ्यहीन है कि 'राधा' आभीरों की प्रेमदेवी रही होगी। 'राधा' का अस्तित्व यदि प्रारम्भ से था, तो वह बहुत बाद में क्यों आती? राधा के अस्तित्व का प्रश्न कृष्ण के बालगोपाल बनने की प्रक्रिया से सम्बद्ध है। एक बार दोनों का एकीकरण होने के बाद, पौराणिक और दार्शनिक दृष्टि से राधा की परिकल्पना आवश्यक हो उठी। कृष्ण की लीलाओं का दार्शनिक समर्थन और पुराणीकरण के लिये राधा, विशेषीकरण की प्रक्रिया से अस्तित्व में आयी। वह अस्तित्व में आ गयी थी, इसलिये उसे दार्शनिक और पौराणिक समर्थन दिया गया, ऐसी बात नहीं। डा० गोवर्धन शुक्ल मानते हैं कि, "सूर की राधा शक्ति और प्रकृति दोनों की प्रतीक हैं।"

ये सन्दर्भ राधा के ऐतिहासिक अस्तित्व से संबंधित सन्दर्भ हैं। कुछ विद्वान सूर की राधा को उसके विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में देखते हैं, जैसे श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है—"सूर की राधा पर ब्रह्मवैवर्त पुराण का प्रभाव अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सूर की राधा कहीं भोली और चंचल है, और कहीं चतुर देख पड़ती है, और कहीं गूढ़ और अतृप्त। कहीं वह भाग्यवती है, और कही गौरवमयी, और कही गंभीर और वियोगिनी। जैसे-जैसे प्रेम का परिपाक हुआ वैसे-वैसे उसके स्वभाव में परिवर्तन हुआ। कम-से-कम यह तो कोई नहीं कह सकता कि सूरदास जी के काव्य में चित्रित राधा-कृष्ण का प्रेम, अतिरिक्त भावात्मक उद्रेक या उबाल का द्योतक है, अथवा उसमें निःशक्त कामुकता या दमित वासना के लक्षण हैं।" आचार्य वाजपेयी जी के

विचार बचाव पक्ष के विचार है। मध्ययुग के पात्रों को, मनोविज्ञान की प्रक्रिया में देखना, सचमुच एक अनैतिहासिक कार्य है। उनको देना है, सूर की राधा का चित्र, परन्तु बनाने यह लगते हैं कि, सूर की राधा का विद्यापति या चंडीदास की राधा से क्या अन्तर है? वैवर्त का प्रभाव मान लेने के बाद, राधा के प्रेम में भावुकता का उबाल स्वीकार करना ही होगा। डा० मुंशीराम शर्मा के विचार में सूरसागर के सभी चरित्र परिपूर्ण हैं। राधा-कृष्ण शुद्ध रूप से मानव प्रतीत होते है। राधा तो गृहस्थ के सुख-दुख का अनुभव करने वाली आर्य महिला के अतीव उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आती है। स्वकीया पत्नी के रूप में वह मुखर और मानवती है, और चंचल है, वियोग मे वह उतनी ही सयत और गम्भीर। सूरदास ने राधा-कृष्ण को लेकर सभी मानवसुलभ सामान्य जीवन-दशाओं का चित्रण किया है परन्तु सबका पर्यवसान प्रभुपूजा मे किया है। राधा, प्रथम केलि विलासवती स्वकीया के रूप में और पश्चात् विरहाश्रुओं के घूंट चुपचाप पीती हुयी विरहिणी आर्यललना के रूप मे प्रकट हुयी है, प्रसादान्त आर्य साहित्य के आदर्शो के अनुकूल, सूर ने अन्त में राधा-कृष्ण का मिलाप करा दिया है। डा० शर्मा के विचार, सूर की वास्तविक राधा से उतने संबंधित नहीं, जितने कि उनके स्वयं के आलोचक की सांस्कृतिक चेतना से। आर्य आदर्श क्या है? या सूरसागर का अन्त सुखान्त है या दुखान्त? राधा के सन्दर्भ में ये अवान्तर प्रश्न है। सूर की राधा आर्यमहिला नही हो सकती, यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है! शायद सनातनी महिला हो सकती है, पर उसके भाग्य में यह होना भी नहीं बदा है, क्योंकि 'आर्यपथ' यानि गृहस्थी का मार्ग छोड़ने में उसे जरा भी झिझक कभी नही हुयी। राधा यदि, आर्यमहिला का आदर्श हो तो, मानना होगा उसका जीवन एकांगी, कर्मशून्य और काल्पनिक रहा है! वस्तुत: भक्तिकाव्य के चरित्रों की सृष्टि इसलिये हुई भी नही। डा० रामरतन भटनागर के अनुसार राधा की सबसे बड़ी विशेषता है—उसका सर्वस्व समर्पण! संयोग-वियोग के अवसरों पर उसने पूरा विश्वास किया है। हिन्दू पत्नी की तरह, वह अपने पति और प्रेमी के सभी दोषों को अपने ऊपर ओढ़ लेती है, उसका चरित्र-चित्रण इतना सुन्दर हुआ है कि मध्यकाल की किसी स्त्रीनायिका का चित्र उसके सामने नहीं ठहरता! वह अपने प्रेमी के प्रति इतना विश्वास लेकर आती है कि आश्चर्य होता है, और इस प्रकार डा० भटनागर राधा के चरित्र की अतिम परिणति शील, संयम और मर्यादा में करते हैं! मेरे विचार में यह चित्रण सूर की राधा के बजाय तुलसी की सीता के बारे में अधिक उपयुक्त है। मनु ने हिन्दू नारी के जो आदर्श गिनाये हैं, क्या वे सूर की राधा में है? क्या हिन्दू आदर्शों की प्रतिष्ठा राधा के माध्यम से संभव है? सूर ने यदि ऐसा किया है तो अपने उद्देश्य में वे बहुत बुरी तरह असफल हैं। राधा सचमुच अपने पति के दोषों को ओढ़ती है तो वह भ्रमरगीत प्रकरण में चुपचाप अपने प्रिय की बुराई क्यो सुनती है? उसमे जो सर्वस्व समर्पण है, वह उसकी अपनी विशेषता है, या उस प्रेमाभक्ति की जिसकी वह स्वयं प्रतीक है? सूर की राधा के बारे मे डा० भटनागर

जो कुछ भी कहते हैं, वह उनका अपना दृष्टिकोण हो सकता है, सूर की राधा उससे अपने को मुक्त समझती है। डा० विजयेन्द्र स्नातक का मत है—"सूर ने राधा का आध्यात्मिक चित्रण किया है और अद्वैत की स्थापना भी। वह स्वकीया है, और कृष्ण की अन्तरंग शक्तिह्लादिनी ! वह परकीया नहीं है। वह मानवती और गौरववती है कृष्ण के दक्षिण नायक होने हुये भी, अनन्य भाव से उनका ध्यान करती है। मान के साथ वह खंडिता भी है। परन्तु उनका मान आशुतोष है। भ्रमरगीत में वह अन्तर्मुख शांत और गंभीर है। यशोदा और गोपियाँ विलाप करती हैं, परन्तु राधा गंभीर और शोकातुर है, नख से हरि का चित्र उकेरती हुयी ? वह अपना नहीं, दूसरों का संदेश भेजती हैं। राधा रससिद्धि की प्रतीक हैं।" डा० स्नातक ने माधुर्यभाव की उपासना के परिप्रेक्ष्य में सूर की राधा का विचार किया है, उनका मुख्य निष्कर्ष यह है कि इसके पूर्व कृष्णभक्ति को राधा को स्थान प्राप्त नहीं था, और यह कहना कठिन है कि माधुर्यभाव से राधा आई, या राधाभाव से माधुर्यभाव आया, या सूफी साधना से। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने यह स्पष्ट नहीं किया कि कृष्णभक्ति से उनका क्या अभिप्राय है ? यदि वह प्रेमाभक्ति हो तो अवश्य ही उसमें राधा का अस्तित्व था, और यह कि माधुर्यभाव के पूर्व राधा अस्तित्व में आ चुकी थी। डा० हरवंशलाल शर्मा अपनी भावात्मक शैली में कहते हैं, "साधना होती रही और हृदय बंधता रहा, भावना दृढ़ होती गई, प्रेम का विलास चलता रहा, गोपियों का सामूहिक चरित्र है, व्यक्तिगत नहीं, राधा इसकी अपवाद है, वह रूपसौंदर्य-मुग्ध होकर भगवत्प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। वियोग के उसमे दो प्रसंग हैं, एक साधारण और दूसरा 'भ्रमरगीत'। भौंरा चक डोरी के प्रसंग में उसकी कृष्ण से मित्रता होती है, यहां आकर्षण और प्रेम का पाठ पढ़कर वह अपना अधिकार जताने लगती है, उसका प्रेम रूप और साहचर्यमूलक है। वह स्वकीया है। मान के चित्रण में एकनिष्ठा का भाव है। भ्रमरगीत उसका विपद मार्मिक चित्र है। वह आदर्श प्रेम साधिका है जो सम्मुख नहीं आती। सूर की राधा मे विद्यापति, जयदेव और चंडीदास की राधाओं की विशेषतायें हैं। इसके साथ स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता है। स्वकीया के तीव्र विरह में परकीया की तीव्रवेदना का समाहार किया है।" मेरे विचार में जैसा की मैं अन्यत्र दिखा चुका हूं कि राधा ने विरह का एक ही प्रसंग है, उसमें साधारण असाधारण जैसी स्थितियों की कल्पना नहीं की जा सकती। राधा नें विरह की अधिकता में परकीया के तीव्र-विरह का समाहार करने का, कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संकेत सूर ने नहीं दिया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी, परकीया के तीव्र-विरह और स्वकीया का वियोग, दो भिन्न मानसिक स्थितियाँ हैं, जिनके लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न हैं।— सूर सागर. में वियोग की अधिकता इसलिये है क्योंकि, वह प्रेमाभक्ति का अभिन्न अंग है। श्री मद्भागवत नें राधा नहीं है, फिर भी उसमें विरह है, राधा का चरित्र व्यक्तिगत होते हुये उसमे भी प्रतीक चरित्र है, और प्रतीक चरित्र की विशेषता यही होती है कि व्यक्ति के स्थान पर उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालता है, जिसका वह

प्रतीक है । इसी प्रकार वह रससिद्धि की नहीं, बल्कि रस - साधना की प्रतीक है ! मेरे विचार में मान - प्रकरणों में राधा की आत्मनिष्ठा ही व्यंजित हैं, न कि एकनिष्ठा । डा० ब्रजेश्वर शर्मा ने राधा के चरित्र का रेखाचित्र दिया है, वह अधिक पूर्ण, तथ्यात्मक और आश्वस्त है । परन्तु उसके बारे में यह प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार का विवरणात्मक चित्र स्वीकार किया जा सकता है ? क्योंकि हम यह नहीं भूल सकते कि, राधा का चरित्र, कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के संदर्भ में अंकित है । कृष्ण के ऐतिहासिक चरित्र में उसका कोई अस्तित्व नहीं है । वह प्रेमलीलाओं में जीती है, इन्हीं के लिये उसे जन्म लेना पड़ा है । अतः उसका चरित्र स्वतंत्र चरित्र न होकर, आरोपित चरित्र है उसके साथ कई अनिवार्य विशेषतायें जुड़ी हुयी है । इस समर्पण में उसे जिस योग्यता और बाधाहीन स्थितियों की आवश्कता थी, वे उसे उपलब्ध हैं । 'चकडोरी' से लेकर 'रासलीला' तक उसे जितनी बाधाहीन स्थितियाँ मिलती है, ऐसी स्थितियां किसी दूसरी प्रेमिका को शायद ही मिली हों । इतना होने पर भी यदि कोई बाधा मिली है तो वह भौतिक नहीं, मानसिक है । "चकडोरी लीला-प्रसंग" में जब उसकी कृष्ण से पहली बार भेंट होती है, उसके पहले ही ब्रजबालायें उनसे प्रभावित हैं, उनकी चितवन उन्हे पुलकित कर चुकती है । इसी मोहक स्थिति में दिखायी देती है—राधा भाल पर रोली का बिन्दु, बड़ी-बड़ी आंखें, पीले कपड़ों में कमर तक झूलती हुयी चोटी । श्याम देखकर मुग्ध हैं—

संग लरकिनी चलि इति आवत दिन थोरी अति छवि गोरी;
सूर श्याम देखत ही रीझे नैन - नैन मिलि रूप ठगौरी

श्याम के परिचय पूछने पर राधा का उत्तर है —

काहे को हम ब्रजतन आवत खेलति रहति आपनी पौरी,
सुनति रहति स्त्रवननि नन्द ढोटा करति रहति दधि माखन चोरी ।

श्याम का उत्तर है —

तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलैं संग मिलि जोरी,
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी ।

इस वार्तालाप में प्रेम का बीज पड़ जाता है, जो उत्तरोत्तर विकसित होता है। उभयनिष्ठ होने से समप्रेम है —

प्रथम सनेह दुहुँनि मन मान्यौ
नैन-नैन की नहीं सब बातें गुह्य प्रीति प्रगटान्यौ

कृष्ण का प्रस्ताव है कि वह घर आये, राधा की स्वीकृति है कि वह अवश्य आयेगी । कृष्ण का अनुभव है कि राधा सीधी है — सूधी निपट देखियत तुमकों तातै करियत साथ ।

दोनों की क्रीड़ा प्रारम्भ होती है, राधा की बड़ी बड़ी आँखों का श्याम के लिये ढकना असम्भव है —

अति विशाल चंचल अनियारे हरि हाथन नहिं समाय

राधा की प्रत्येक प्रगल्भ चेष्टा, श्याम की प्रत्येक चेष्टा को प्राप्त है । वह गुप्त

भेद समझती है और तदनुसार आचरण भी करती है। वह श्याम को 'खरिक' आने का आमंत्रण देना नहीं भूलती क्योंकि उसे स्वयं वहां जाना है ! यद्यपि वह गुप्त प्रेम को प्रकट नहीं होने देती, क्योंकि उसमे संकोच और झिझक है। जब कभी उसे खेल खेल में देर हो जाती तो उसे माँ का डर लगता, वह मां से अनुमति मांगती :—

जननी मैं दोहनी मांगति बेगि दे री माई
सूर प्रभु सौं खरिक मिलिहौं गए मोहि बुलाई

परन्तु यह मात्र औपचारिकता है, नही तो उसे अनुमति मिली मिलाई है। नंद खरिक में आकर राधा को कृष्ण सौंप देते है, और इससे राधा में अधिकार की भावना जन्म लेती है—**जान न दै हों तुमकौ बाँह तुम्हारी नैक न छाई।**

इसके अनन्तर जो क्रीड़ायें होती है, उनमें राधा का सामान्य चरित्र ही उभर कर आता है। क्रीड़ाओं के बाद जब दोनों अपने घर जाते हैं तो उनके वस्त्र बदल जाते हैं। पूछे जाने पर दोनों बहाना बना देते हैं। राधा सर्पदन्श की मनगढ़न्त घटना सुनाती है, और बताती है कि उसका मन कितना त्रस्त है, वस्तुतः सर्पदन्श की घटना में श्लेष है और यह प्रिय के साथ मधुरतम संगम का सकेत है। माँ समझती है कि उसकी बिटिया को नजर लग गयी है और बाहर नही जाने देती। परन्तु वह कब मानने वाली है। वह पहुंच जाती है—नन्द के घर। अभी वह इस घर से अपरिचित है, फिर भी उसे असुविधा नही है, क्योंकि श्याम ने पहले ही सब कुछ अपनी माँ को बता दिया है। यशोदा दोनों को खेलने देती है, पहली ही नजर मे वह उन्हें 'अगाध' दम्पति के रूप में देखने लगती है। राधा अपने घर जाकर सब कुछ बता देती है, उसकी माँ भी कुछ नहीं कहती। दोनों की क्रीड़ायें, परस्पर सापेक्ष्य और स्वच्छ है ! उनके लिये न तो कुल का बंधन है और न समाज की बाधा ! गाय दुहना, नेति के लिये झगड़ना, दही ढिलोना, एक दूसरे को उलझाये रहना ही, उनका दैनिक क्रम बन जाता है। इसीलिये वह गोपियो की आलोचना की पात्र बनती है। इन एकांतिक प्रेम-लीलाओं में राधा में एकाधिकार की भावना जन्म लेती है, जिसका परिणाम है, कलह। कलह भी ऐसी कि मानो श्री कृष्ण उसी के गृहस्वामी हो **सूरदास प्रभु भुगरौ सीख्यौ ज्यौं घर खसम गुसैयाँ ?**

प्रस्तुत कलह के मूल मे है-राधा की समानता की भावना। वह कृष्ण को अपने बराबर समझती है, क्योंकि उनका कुल और जाति एक ही है, हाँ, कृष्ण के पास दो-चार गायें अधिक होने से वह बड़े नही हो जाते। राधा अपनी बात हसी-हंसी मे ही कहती है, परन्तु इससे उसके हृदय की दुर्बलता प्रकट हो ही जाती है ! श्याम पर राधा को समानाधिकार है। इस दावे की प्रतिक्रिया यह होती है कि वह उसकी दुहनी वापस नहीं करते, बदले मे देते है—मुस्कान। वह बेसुध हो उठती, फिर उसी चुम्बन क्रिया से उसकी बेहोशी दूर होती है ! समझा यह जाता है कि राधा को कालिया ने डस लिया था, और कृष्ण गारुड़ी ने उसके जहर को उतार दिया है, परन्तु उतरे हुये जहर की लहर अब गोपियों को ग्रसित कर लेती है। राधा के प्रेम का यह एक प्रकार

से समाजीकरण है । श्याम को पाने के लिए गोपियाँ वही सब करती हैं जो आज तक पति पाने के लिये भारतीय ललनायें करती आई हैं ! राधा अभी तक जिस प्रेम में दीक्षित थी, अब उसमें गोपियाँ भी रंग गयी हैं । अब जो लीलायें होती हैं उनमें गोपियों का भी अंश है । घोषकुमारियों की सामूहिक प्रार्थना के बाद चीरहरण लीला आती है, जिसका मुख्य उद्देश्य है, गोपियों के सामूहिक संकोच और झिझक का त्याग कराना । यथार्थतः चीरहरण लीला, रासलीला की आवश्यक पृष्ठभूमि है, क्योंकि इसमें कृष्ण एक तो गोपियों को रासलीला का आश्वासन देते हैं, दूसरे वे अपनी झिझक दूर कर रासलीला के लिये अपने आपको मानसिक रूप से तैयार करती हैं । कृष्ण कहते हैं—

तुम मन कामिनी परिपूरन करिहौं
रास रंग रचि रचि सुख भरिहौं

रासलीला में श्याम के साथ राधा, ऐसी लगती है, मानो मेघ के साथ बिजु-रिया हो । राधा में तन्मयता, एकनिष्ठा सब कुछ है, परन्तु अविकार-ग्रन्थि से वह अपना पिंड अभी भी नहीं छुड़ा पाती ! उसके मन में अहं आते ही श्याम का अन्तर्धान होना और राधा का व्याकुल होना, कारण-कार्य रूप से सम्बद्ध है । वह अपने प्रिय के इस निराले चरित्र को समझ नहीं पाती—

अहो कान्ह पर बात निराली
सुख में ही भये नियारे,
इक सगी इक समीप रहत हैं
तिन तजि कहां रहत हैं

यह स्वभाव की विविधता नहीं तो क्या ? दुनियां कम-से-कम दुख में साथ देती है, पर श्रीकृष्ण सुख में भी साथ नहीं देना चाहते, और जो सुख में भी साथ नहीं दे सकता, वह दुख में क्या साथ देगा ? राधा की अविकार-भावना यह देखकर और आहत हो उठती है कि वे उस जैसी एकान्तभाव से साथ और निकटतम रहने वाली को छोड़कर जाने कहाँ चल देते हैं ! राधा फिर एक बार श्याम को अपने निकट पाती है और अहं के मद में आ जाती है । वह उनके कंधे पर चढ़कर फल तोड़ने का आग्रह करती है—

जब कियौ मान गर्व पियारी कौन मौसो आन
अति थकित भई चतित मोहन चलि मोपै न जाय
कंठ भुजि गहि रहि यह कहि लेउ कंध चढ़ाय
गए संग बिलारी रस में दीरस कीन्हौं बाल
सूर प्रभु दुरि चरित देखत तुरत भई बिहाल

सूर का मान विरह का मुख्य उद्देश्य न तो प्रेम की एकनिष्ठा है और न विरहोपरान्त मिलन और भोग के अधिक अवसर राधा को प्रदान करना, जैसा कि कुछ आलोचक मानते हैं । मेरे विचार में उसका मुख्यतम उद्देश्य, रचना में विरसता उत्पन्न

कर, अहं की ग्रन्थि को तोड़ना और साधना को सक्रिय बनाये रखना है और यह बताना है कि सख्यभाव की उपासना का अर्थ प्रिय से समानता की होड़ करना या उस पर एकाधिकार कर लेना नहीं है। इसके ठीक बाद प्रारंभ होती है 'रासलीला' परन्तु उसमें राधा का चरित्र प्राकृतिक भूमिका से उठकर अप्राकृतिक भूमिका में प्रवेश करता है। श्याम को हजार नेत्रों से देखने की साध उसके मन में है। गोपियाँ उसे श्याम की प्राणप्रिया मानती हैं। वे राधा से यह जानना चाहती हैं कि श्याम से उसकी वास्तविक प्रीति कब हुयी। राधा की इस बात पर गोपियाँ विश्वास ही नहीं कर सकतीं कि श्याम राधा के आँगन में आये और वह बात न कर पाये! इसका कारण है—सूर श्याम तेरे बस राधा। इस अविश्वास के कारण ही वे राधा पर आरोप लगाती हैं। एक कहती है कि, राधा में दुराव है, दूसरी कहती है कि, श्याम खोटे हैं, परन्तु राधा उनसे भी अधिक खोटी है, तीसरी कहती है कि, राधा जैसी भी हो, वह श्याम की प्रिया है, उसका रंग सबसे पक्का है, क्योंकि वह श्याम रंग में रंग चुकी है, उसकी श्यामता, सात्त्विकता पर आधारित है—

कुसम्भरंग गुरुजन मात - पिता
हरित रंग भगिनी अरु भ्राता
स्याम रंग अजराइत ह्वै हैं
उज्जवल रंग गोपिनी नारी

यही स्वर 'भ्रमरगीत' में मुखरित हुआ है—'सत् की ध्वजा श्वेत ब्रज ऊपर।' गोपियों की इस आत्मस्वीकृति से यह सिद्ध है कि गोपियाँ उज्ज्वलता को पा सकी हैं, जब कि राधा श्यामता को पा चुकी है। उज्ज्वलता अर्थात् सात्त्विकता श्यामलता की आधार-भूमि है। कुसुंभ रंग एक बार चाहे छूट जाये या हरा रंग उड़ जाये, परन्तु श्याम रंग पक्का है। इस प्रकार रासलीला में राधा श्यामता को पाकर, अपनी साधना की सफलता पर पहुंच चुकती है।

रासलीला के बाद प्रारम्भ होता है, वियोग— जिसकी अन्तिम भूमिका भ्रमरगीत है। राधा इसमें मौन रहती है, परन्तु इसके केन्द्र में वही है। उसकी प्रवक्ता बनती हैं, गोपियाँ! राधा प्रत्यक्ष रूप से कुछ नही कहती। फिर भी उसके जो दो एक सांकेतिक चित्र कवि ने दिये हैं। उनसे लगता है, राधा शारीरिक रूप में अशक्त है। इतनी अशक्त है कि उठती है तो लड़खड़ा जाती है। जब बोलने की चेष्टा करती हैं तो शब्द नहीं, आंखों से अश्रुधारा बह उठती है। और आशंका यह है कि कहीं उसके आंसुओं की बाढ़ में ब्रज ही न डूब जाये। लेकिन भ्रमरगीत में राधा की चुप्पी का अर्थ यह नहीं है कि वह सचमुच शांत और गंभीर है, जैसा कि सूरसाहित्य के मूर्धन्य आलोचकों ने उसे देखा है। प्रश्न है, यह मौन राधा की शक्ति का द्योतक है या अशक्ति का? जो राधा अपनी मैली साड़ी इसलिये नहीं धुलवाती, क्योंकि वह रति-श्रम-स्वेदकणों से लिप्त है, जिसकी वियोग जन्य कृशता और मरणासन्नता को बताने के लिये कवि को यमुना को विरह ज्वरकारी बताना पड़े, उसे शांत, गम्भीर कहना,

उन शब्दों का अर्थ बदलना है। राधा की चुप्पी अशक्ति-जन्य है, आचार्य वाजपेयी भले ही उसे नि:शक्त कामुकता न कहें, पर है उसकी दुर्बलता। राधा की इस विह्वल चुप्पी में ब्रह्मवैवर्त पुराण की राधा की वाचालता का प्रभाव नहीं, प्रतिक्रिया है !

वस्तुत: राधा का चरित्र एकरस चरित्र है। उसमें जो भी भिन्नता है, वह अपने दृष्टिकोण की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के कारण। सामाजिक संदर्भ में उसका प्रेम निर्विरोध है, फिर वह प्रेम के क्षेत्र में एकाधिकार चाहती है, उसकी मान-लीलाओं को इस लक्ष्य मे रखा जा सकता है। वस्तुत. राधा में जो समर्पण का भाव है, वह समर्पण के लिये न होकर एकाधिकार के लिये है। यह बात, मान-लीलाओं के संबन्ध में दोनों के दृष्टिकोणो से स्पष्ट हो जाती है। श्री कृष्ण 'मान' को प्रेम में बाधक मानते है—

प्रेम माँहि जो करहिं रुसनों तिनहिं प्रेम कंहि कैसे।

इसके विपरीत राधा का विश्वास है कि मान प्रेम में सहायक और उसकी कसौटी है—

तुम मन दियौ आनि बनिता को मैं मन मान लगायौ
श्याम मान है प्रेम कसौटी प्रेमहि मान सहायौ

राधा के इस मान का मनोविज्ञान यह है कि मान के बाद प्रिय जितना निकट आता है, उसमें मान की प्रवृत्ति उतनी प्रबल हो उठती है। वह कहती है—

मिलौ न तिनसौ भूल जबा जौलौं जीवन जियौ
सहौ विरह के शूल, वस ताको ज्वाला जलौ
मैं अपने मन याही ठानौ
उनके पंथ न पीवौ पनी

माना कि यह उसके चरित्र का केन्द्र बिन्दु है। प्रश्न उठता है कि समर्पिता राधा मे इतना अहंभाव क्यो है ? मान से मन लगाने का अर्थ, क्या अपने में खो जाना नही है ? प्रिय के पंथ का पानी पीकर प्यास बुझाने के बजाय वह विरह की ज्वाला मे जलना क्यों पसंद करती है ? अतृप्ति यद्यपि उसकी साधना का लक्ष्य नहीं है, वह तृप्ति चाहती है अवश्य, परन्तु अपने ढग से। लेकिन जब वह देखती है कि वह अपने ढग से तृप्ति नही पा सकती तो वह अतृप्त रहना चाहती है। दूसरे शब्दों में पराधीन तृप्ति की निष्क्रियता से अतृप्ति की स्वाधीन सक्रियता को वह अधिक पसंद करती है। इस सन्दर्भ मे एक प्रश्न यह है कि राधा का यह मान परिस्थितिगत है या स्वभावगत ? डा० व्रजेश्वर वर्मा का कथन है,—"फिर भी राधा में प्रेम की अतृप्ति बराबर बनी रहती है। इस अतृप्ति के दो कारण है, एक तो उसका प्रेम गुप्त ढंग का है, जिसे लोक दृष्टि से बचाना पड़ता है अत. संयोग के अवसर वियोग के दुखदायी लम्बे व्यवधानों के बाद कठिनाई से प्राप्त होते है, दूसरे श्रीकृष्ण का बहुनायकत्व राधा के ऐकान्तिक असंतोष को बढ़ाने वाला है, इन दो बाधाओं के कारण हृदय में कभी-कभी भय उत्पन्न हो जाता है। ये बाधाये कृष्ण के प्रति राधा का प्रेम बढ़ाने वाली है। कवि ने बहुनायक कृष्ण के साथ राधा की गुप्त रति का चित्रण करके

जहाँ एक मनोवैज्ञानिक सत्य का दृष्टान्त उपस्थित किया है, राधा के चरित्र में भी भावनाओं की विविधताओं का समावेश करके विलक्षणता उत्पन्न कर दी । जो राधा कृष्ण का पलमात्र वियोग सहन नहीं करने में असमर्थ हैं, उसे परिस्थितिवश मान सहन करना पड़ता है ।"—यह सच है कि राधा में अतृप्ति है, परन्तु इसका कारण राधा का कृष्ण के प्रति गुप्त प्रेम नहीं है ? उसके प्रेम में जो दु:खद अन्तराल आते हैं, उनका कारण भी गुप्त प्रेम नहीं । क्योंकि जो राधा मर्यादाओं को नि संकोचभाव से छोड सकती है, उसे अपने प्रेम को लोक से छिपाने का कोई कारण नहीं । और यदि उसमें लोकभय था, तो उसे बहुनायक कृष्ण से प्रेम ही नहीं करना था ! लेकिन इतिहास साक्षी है कि राधा यदि किसी से प्रेम कर सकती है तो वह कृष्ण से ही । राधा की तथाकथित गुप्त प्रीति और बहुनायक कृष्ण में कोई मनोवैज्ञानिक सत्य नहीं है, यह भी इतिहास का जाना माना सत्य है कि राधा-कृष्ण से प्रेम करने के लिये ही जन्मी थी । फिर भी राधा में जो अतृप्ति है, वह इसलिए कि वह प्रेम की सहज प्रक्रिया है । राधा में जो मान, आंशका आदि मानसिक स्थितियाँ है, वह प्रेम के संबन्ध में उसके अपने एकाधिकारवादी दृष्टिकोण के कारण ही । अत: उसे जो मान करना पड़ा है, वह परिस्थितिगत नहीं, वरन् स्वभावगत या सैद्धान्तिक है । मान विरह के सन्दर्भ में भी राधा के चरित्र में डा० वर्मा ने जिस दृढ़ता, गौरव आदि के दर्शन किये हैं, वे भी आरोपित हैं । वास्तविकता यह है कि ये गुण परिस्थितियों के जिस उतार चढ़ाव में उभरते हैं, उनका सूर-सागर में नितांत अभाव है ।

राधा के चरित्र-विश्लेपण के प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में यह नहीं भूलना चाहिये कि परम्परा की राधा के प्रतीक को ही सूर ने नया जीवन दिया है । सूर की राधा में ब्रह्मवैवर्त की राधा का प्रभाव नहीं (जैसा आचार्य वाजपेयी मानते है) वल्कि स्पष्ट प्रतिक्रिया है । वैवर्त में राधा, कृष्ण की प्रेममयी शक्ति है जो पूर्व जन्म में पति-वियोग के शाप से अभिशप्त होकर मर्त्य लोक में आती है ! एक दिन गोधन चराते-चराते नंद का कृष्ण को वृक्ष के नीचे छोड़ देना, कृष्ण का मायामय बादलों की रचना करना, राधा का आना और खेलना, फिर कृष्ण को नंद तक पहुचा देना—वैवर्त की लीलाओं का एक पक्ष है दूसरा पक्ष है, "मायामय मडप मे विहार करना, एक दूसरे का पारस्परिक अलंकरण, उपकरणों का विनिमय करना, कृष्ण का छिपना, राधा का विलाप करना और तब कृष्ण का प्रकट होना ? तीसरा पक्ष है, प्रवासी कृष्ण का ऊद्धव को वृन्दावन भेजना, सबसे मिलकर उद्धव का राधामन्दिर पहुचना, राधा को मूर्छित देख उद्धव का स्तुति करना, सुध आने पर राधा का कुशलक्षेम पूछना, और विस्तार से अपनी व्यथा की बात कहना, राधा का मूर्छित होना, फिर होश में आना उसकी सहेलियों का उसके कृष्ण-प्रेम की विभिन्न दृष्टिकोणों से आलोचना करना ?" माधवी कृष्ण की आलोचक है । मालती प्रेम को समयसापेक्ष्य मानती है, जबकि पद्मावती चंचल और क्षणिक ! चन्द्रमुखी के लिये प्रेम पूर्वजन्म का परिणाम है, जबकि शशिकला स्वीकारती है—कृष्ण जैसे महान व्यक्तित्व से प्रेम करना ही व्यर्थ

है, और इसलिए—'आत्म-प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है । सुशीला—इसके विरुद्ध है और वह सबका प्रतिवाद कर राधा को कृष्ण प्रेम के कारण 'पुण्यवती मानती है । यह बातचीत उद्धव को मूर्छित कर देती है, राधा उन्हें होश मे लाती है । उद्धव को विदा कर वह आशीर्वाद और कल्याण-कामना करती है । इस प्रकार वैवर्त की राधा भक्तात्मक लगन की प्रतीक है । उसका एकमात्र विश्वास है, "आशा ही परमं दुःख नैराश्यं परमं सुखं ।" ठीक इसके विपरीत है, सूर की राधा का विश्वास कि, "नैराश्यं हि परमं दु:खं आशा ही परमं सुख ।" और उसका यह विश्वास शब्दों मे नही, जीवन की साधना में मुखरित हुआ है । वैवर्त की राधा अतिप्राकृत भूमिका पर खड़ी है, सूर की राधा प्राकृत भूमिका पर । व्रज लोकसंस्कृति के रंगमंच पर उसकी अभिनय लीला होती है, प्रकृति उसके मुखपृष्ठ मे रंगी हुयी है । अश्रु-विगलित भावुकता और नाजुक मूर्छाओं की जगह उसमे चेष्टाये और मौन है ! इस प्रकार सूर की राधा विशुद्ध मानवी है, लेकिन प्रारंभ मे वह जिन परिस्थितियो को जीती है, उसमें कोई घात-प्रतिघात नही । फिर भी इन स्थितियों का कोई महत्व है तो वह यही कि वे उस प्रेम की पृष्ठभूमि बनती है, कि जिसके लिये राधा समर्पित है । यह प्रेम अपनी प्रथम अनुभूति मे रूप की प्रतिक्रिया है, जो साहचर्य और पारस्परिक विश्वासों में विकसित होता है, अत्यन्त अनुकूलताओ मे फिर यह प्रेम एकान्तिक प्रतिवद्धता मे प्रवेश करता है, जब नंद कृष्ण को राधा के लिये सौंप देते है । राधा में एकाधिकार की प्रवृत्ति जगती है, मान और अतृप्ति, जिसकी अनिवार्य प्रतिक्रियायें है । कालिया दंश की घटना के बाद, राधा की तरह गोपियां भी श्याम के रंग मे रंग जाती है । दोनों में अंतर यह है कि गोपियाँ जो कहती है, राधा उसे कर दिखाती है राधा का अस्तित्व न तो आर्यमहिला के आदर्श की प्रतिष्ठा के लिये है, और न हिन्दू पत्नि के । वह जन्मी है—'प्रेमाभक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की प्रयोगशाला बनने के लिये ।' वैवर्त की राधा-भक्तिमूलक ज्ञान की प्रतीक है, जबकि सूर की राधा प्रेमाभक्ति की दीपशिखा । प्रिय की उपस्थिति मे जब वह आलोकित होती है तो एकाधिकार की भावना से उसकी "लौ" तीखी हो आती है, और प्रिय की अनुपस्थिति में वही समस्त पीडाओं को आत्मसात कर आशा से अरुणिम आभा बिखेरती है ।—

कुब्जा

जहाँ तक सूर का सम्बन्ध है, उन्होने इन पात्रों की अवतारणा, क्रमश: ब्रह्मवैवर्त पुराण और श्री मद्भागवत से की है । वैवर्त मे राधा है, कुब्जा नही और भागवत मे कुब्जा है, राधा नही । सागर में दोनों का संगम है । साफ है कि यह निष्प्रयोजन नही है । वैवर्त मे, राधा 'अतिप्राकृत' तत्त्व की प्रतीक है । वह पराशक्ति है, और कृष्ण उसके सहयोग से ही सृष्टि करने में समर्थ है । भागवत मे मुख्य है, श्री कृष्ण । वह एक समर्थ निरंजनाकार उपास्य है । उनको पाने का साधन है, नवधामूलक भक्ति । मोह से छुटकारा और वैराग्य उसके अंग है । सूर इस दृष्टि से मध्यम मार्ग अपनाते

हैं। राधा उन्हें स्वीकार है, और कुब्जा भी। प्रमुख तत्व सूर सागर में कृष्ण ही हैं। राधा और कृष्ण का अतिप्राकृत सम्बन्ध भी सिद्धान्त रूप में सूर को स्वीकार है। पर उनका मुख्य लक्ष्य है— दोनों के मधुर मानवी सम्बन्धों की भावभीनी अवतारणा। इसलिए कृष्ण की अतिप्राकृत घटनाओं के विवरण में सूर का कवि उतना नही रमता जितना कि प्राकृतिक लीलाओं के चित्रण में। इस गान में उसका भक्ति स्वर चुपचाप सम्मिलित है। सागर के स्त्री पात्र, भक्ति के किसी न किसी रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। गोपियां, राधा, यशोदा और कुब्जा भक्ति की विभिन्न—मानसिक स्थितियों की प्रतीक बनकर आती हैं। अन्यत्र मैं यह बता चुका हूँ— कि सूर की भक्ति, प्रेमाभक्ति है। राग और वैयक्तिकता जिसके अनिवार्य अंग है। और इन अंगों की पूरी-पूरी परिणति के लिये, "अहं का विसर्जन" अत्यन्त आवश्यक भूमिका है। विभिन्न आलम्बनों के माध्यम से, अपने इस उद्देश्य की मनोवैज्ञानिक सिद्धि में ही सूर की सफलता और लोकप्रियता का रहस्य निहित है। सूर अहं का विसर्जन करते हैं मनोविज्ञान की प्रक्रिया से जबकि भागवतकार, वैराग्य और और उपदेश के माध्यम से।

इस विचार से, सूर की राधा, कृष्ण की प्रेयसी ही नहीं, वरन् प्रेमाभक्ति की आदर्श प्रतीक है। उसकी तुलना में गोपियाँ कुछ हेय स्थिति में हैं। कुब्जा की अवतारणा, सूर ने राधा की आध्यात्मिक प्रतियोगिनी के रूप में ही मुख्य रूप से की है। पर गोपियों की उपालंभ-उक्तियों से यही लगता है कि जैसे वह सापत्न्यभाव की आलम्बन है। इस दृष्टि से भागवत की कुब्जा और सूर की कुब्जा में जमीन आसमान का अन्तर है। भागवतकार की कुब्जा, एक साधारण हीन नारी है, जो चेहरे से सुन्दर होते हुये भी शरीर से कुबड़ी है। कृष्ण के मथुरा पहुंचने पर रास्ते में उसकी कृष्ण से भेंट होती है। मंद मुस्कान में कृष्ण पूछते हैं— परिचय और माग बैठते हैं, अंगराग। परिचय में कुब्जा बताती है कि वह त्रिवक्रा नाम की कंस की दासी है। कृष्ण के सौंदर्य और चितवन पर वह मुग्ध हो उठती है। वह उन्हे अंगराग और चंदन दे देती है और प्रतिदान में कृष्ण उसे त्रिवक्रा से सुन्दरी बना देते हैं। एक दूसरे प्रसंग मे कृष्ण कुब्जा के घर जाते हैं। कुब्जा इसके लिये पहले ही उनसे अनुरोध कर चुकी थी। कृष्ण मिलन की कामना बड़े वेग से उसके मन में लह रा उठती है। उसके अनुरोध के उत्तर में कृष्ण जो कुछ कहते हैं, उससे लगता है कि कुब्जा के बारे मे उनकी धारणा या तो एकदम ऊँची थी या एकदम निम्न। वह कुब्जा का अनुरोध इसलिए स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि उसका घर सांसारिक लोगों की मानसिक व्याधि मिटाने का साधन था, और उन जैसे बेघर बटोही के लिये, इससे बढ़कर दूसरा ठिकाना नहीं हो सकता था। यहाँ पर मानसिक व्याधि के दोनों ही अर्थ सभव हैं। वह भोग से शात की जा सकती है, और आध्यात्मिक क्रान्ति से भी। पर शायद भागवतकार को पहला ही अर्थ अभिप्रेत था। कुब्जा का घर उत्तेजक बहुमूल्य सामग्री से भरा था, कृष्ण उसकी सेज पर बैठे। उसने मिलन का आनन्द लूटा। पर वह इतने से तृप्त नहीं हुयी और उसने कृष्ण से कुछ और दिन क्रीड़ा करने का अनुरोध किया। कृष्ण उसे सांत्वना देकर चले जाते हैं। "कुब्जा"

प्रसंग मे भागवतकार यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जो भगवान को प्रसन्न कर उनसे विषय सुख मांगता है वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है। भौतिक सुख के लिए आध्यात्मिक साधना करने वालों की भागवतकार कड़ी निन्दा करते हैं। "कुब्जा" निश्चय ही ऐसे साधकों की प्रतीक है।

सूर ने, कुब्जा प्रसंग ज्यों का त्यों भागवत से ले लिया है, पर उनका उद्देश्य और अभिप्राय उससे एकदम भिन्न है। और कुछ अर्थ में मौलिक भी। विवरण क्रम में थोड़ा परिवर्तन है। जैसे भागवत मे कृष्ण कुब्जा से अंगराग मांगते हैं और स्वयं उसे लगाते हैं। सूरसागर मे कुब्जा स्वयं उन्हे लेप करती है—

लिए चंदनि अहुरि आनि कुबिजा मिली
स्याम अंग लेप कीन्हों बनाई
रीझि तिहिं रूप दियौ अंग सूधौ कियौ
वचन भाखी निज घर पठाई।

प्रस्तुत अवतारणा में दोनो का अभिप्राय अलग-अलग है। भागवतकार कृष्ण का बड़प्पन बताना चाहते है, जबकि सूर कुब्जा की विनीत भक्तिनिष्ठा। सूर स्वयं कहते है— कूबरी नारी सुन्दरी कीन्ही
भाव में बास, बिनु भाव नहिं पाइये

कृष्ण के कुब्जा के घर पहुंचने पर सूर इस कारण की कल्पना करते है—

कूबरी पूरब तप करि राख्यौ
आए स्याम भवन ताहि नृपति महल सब नाख्यौ

वस्तुत: कुब्जा-प्रसंग, भक्त की निष्ठा और भगवान की वत्सलता की चरमसीमा का प्रसंग है। सूर की उद्भावना तो यहा तक है कि कुब्जा ने अपना रूप इस डर से छिपा लिया था कि कहीं रूप के अह मे कृष्ण से वह बिछुड़ न जाये। इसीलिये कृष्ण के मथुरा से गोकुल चले जाने पर, उसने कुब्जा बनकर रहना पसन्द किया।

कुब्जा हरि कौ दासी आहि?
जैसे आपु भाजि गोकुल रहे तैसे राखी ताहि
रूप रतन दुराइ कै राख्यौ जैसे नली कपूर
सूरदास प्रभु कंस मारि कै लइ आनि तिहि चाहि

दोनो के मिलन पर, वस्तुत: मथुरावासियों की भी यही प्रतिक्रिया है—

कुबिजा तो बड़भागी है
करुना करि हरि जाहि निवाजी
आपु रहे वहँ राजी है

यह तो हुआ कुब्जा के चरित्र का पूर्व रूप। उसके चरित्र का उत्तर रूप, गठित किया गया है— राधा के सन्दर्भ मे। यह सन्दर्भ दो बार आता है, एक तो ग्वाल-बाल राधा को कृष्ण-कुब्जा-सम्बन्ध की सूचना देना है, दूसरे उद्धव के गोकुल जाते समय, कुब्जा गोपियों को संदेश भेजती है। यह एक अजीब बात है कि कुब्जा की बात न तो

नन्द गोपियों को बताते हैं और न उद्धव को। वस्तुत: उनके बताने में औचित्य भी नहीं था। पर बताना आवश्यक था। क्योंकि गोपियों की विरह वेदना की बहुत सी उत्तेजना और कसक कृष्ण के सम्बन्ध-लगन पर ही निर्भर करती है। उनके विरह को उद्दीप्त करने वाले प्रसंग दो ही हैं, एक उद्धव का हठयोग उपदेश और दूसरा कृष्ण कुब्जा प्रणय। वैसे मुरलिया के नाम से भी गोपियां भड़कती हैं, पर वह कल्पना पर अधिक आश्रित है। इसमें भी कुब्जा प्रसंग उद्धव उपदेश की पीठिका प्रस्तुत करता है। यही कारण है उनके आगमन से पहले एक गोप कृष्ण कुब्जा प्रसंग की सूचना गोपियों को दे देता है। भ्रमरगीत के कृष्ण को समझने के लिये इसका बहुत बड़ा महत्व है। ग्वाल बाल कहता है—

ग्वारनी कहि ऐसी जाइ
भए हरि मधुपुरि राजा बड़े वंश कहाइ
राजभूषन अंग विराजत अहिर कहत लजात
मातु-पितु वसुदेव दैवै नंद जसुमति नाहि
मिली कुबिजा गले लैके, सोइ भई अरंधग
सूर प्रभु बस गये ताकैं करत नाना रंग

भ्रमरगीत के सारे उपालंभों, खीजों, आक्रोश, व्यंगोक्तियों, प्रलापों और टीसों की जड़ यही सूचना है। यह सुनकर गोपियाँ अपना मानसिक संतुलन खो चुकी थीं। एक भी आधार नहीं था, जिस पर कृष्ण मिलन की आशा, वे करतीं। क्योंकि—

कुबिजा को नाम सुनि विरह अनल जूड़ी
रिसनी नारि धधक उठी क्रोध मध्य बूड़ी
आवन की आस मिटी उरथ सब श्वासा
कुबिजा नृपदासी हम सब करी निरासा
लोचन जलधार अगम विरह नदी बाढ़ी

उन्हें विश्वास नहीं होता कि कृष्ण यह भी कर सकते हैं। 'कैसे हरि यह करि हैं ?' और फिर इसमें दोप हरि का ही है, क्योंकि—हरि ही कुबिजा करी ढीठ

उनका यह भी विश्वास है—कंस वध्यौ कुबिजा के काज

दूसरा सन्दर्भ है कुब्जा की पाती, जो वह उद्धव के हाथ राधा को भेजती है। पता नहीं, गोपियों ने उसे पढ़ा या नहीं। एक आदर्श भक्त होने के नाते सीधे-सादे शब्दों में उसमें वह यही लिखती है कि मुझे दोप लगाना व्यर्थ है। दोप मेरा नहीं दे, हरि कृपा का है। इन पक्तियों मे वह अपनी सही स्थिति रख देती है—

फलीन मांझि ज्यौं करुई तोमरी रहत घूरे पर डारि
अब तो हाथ परी जंत्री के बाजत राग दुलारि

कुब्जा यह भी कहती है कि सवेरे-सवेरे मुझे गाली देना शोभा नही देता। यह कहना ही गलत है कि मेरे प्रणय के कारण कृष्ण मथुरा नहीं छोड़ना चाहते। सच

बात तो यह है कि बचपन में बृजवालों ने श्याम को इतना सताया है कि वह वहाँ जाने के नाम से चौंकते है । यह होते हुए भी वह राधा की कृपा चाहती है—

मो पर रिस पावत बिनु कारन मैं हौं तुम्हरी दासी
तुम ही मन में गुनि धौ देख्यौ बिनु तप पायौ कासी

संदेश की प्रस्तुत भूमिका के बाद उद्धव, ज्ञान और आश्वासनों की खेप लादकर वृन्दावन पहुँचते है पर वहाँ उन पर मूड़ मुड़ाते ही ओले पड़ते हैं । गोपियों को उद्धव की हर बात में कुब्जा की चाल नज़र आती है । भ्रमर से वह पूछती हैं—

पूछन लागी ताहि गोपिका कुबिजा तोहि पठायौ
कींधौं सूर श्याम सुन्दर कौं हमें संदेशौं लायौ

इस प्रकार सूर का कुब्जा प्रसंग–भ्रमरगीत का महत्वपूर्ण प्रसंग है । कुब्जा एक साधारण दासी ही नहीं, प्रत्युत कृष्ण की कृपापात्र भक्त है । वह भक्ति की सिद्धा-वस्था में है जब कि राधा साध्यावस्था में । राधा रूप की जिस मर्यादा से घिरी है कुब्जा उसे तोड़ चुकी है । वह आत्म सौन्दर्य की पुजारिन है । वह इस आदर्श की मूक घोषणा है कि आत्मा के सौन्दर्य के लिए देह के सौन्दर्य का गोपन करना ही होगा । लौकिक दृष्टि से भले ही वह इसके लिए दोषी समझी जाये कि उसके कारण गोपियों को तरसना पड़ा । पर आध्यात्मिक दृष्टि से गोपियाँ ही इसके लिए दोषी थीं । अपनी साधना की कमी का दोष उन्होंने जबरन कुब्जा पर थोपना चाहा । ईर्ष्या, दोषदर्शन और उपालंभ अपूर्णता की प्रतिक्रिया है । कुब्जा पूर्णता को पा चुकी थी । अत: उसमें ये बातें नहीं । गोपियों में अपूर्णता थी, अत: यह बातें उनमें हैं । राधा की स्थिति दोनों के बीच है । सूर की कुब्जा की साधना और अर्पण क्षुद्र क्षणिक आवेग के समा-धान के लिए नहीं, प्रत्युत आदर्श की चरमसिद्धि के लिये था । और यही दिखाना सूर का आध्यात्मिक लक्ष्य है ।

डा० व्रजेश्वर वर्मा का यह कथन विचारणीय है कि, "कृष्ण और गोपियों के प्रेम को समझ सकना कुब्जा के सामर्थ्य के बाहर है, पर कुब्जा में लांछन का प्रत्युत्तर देने की क्षमता अवश्य है । उसमें किंचित गर्व भले ही हो गया हो पर वे मिथ्या धारणायें नहीं हैं, जिसकी कल्पना गोपियों ने कर डाली । काव्य में कुब्जा का चरित्र जहाँ एक ओर कृष्ण की भक्त-वत्सलता का एक और प्रमाण प्रस्तुत करता है, वहां उससे भी अधिक गोपियों के प्रेम भाव को परोक्ष रूप में प्रकट करता है ।" क्योंकि मेरे मत में डा० वर्मा के कथन को उलटकर इस रूप में रखा जा सकता है, कि कुब्जा की स्थिति समझ सकना गोपियों के सामर्थ्य के बाहर की बात है । क्योंकि कुब्जा की खुली विनयशीलता और स्पष्ट आत्मस्वीकृतियों के बाद भी, गोपियाँ उस पर लाँछन लगाती हैं । वह श्याम की भक्त-वत्सलता की पात्र तो है ही, पर उससे अधिक उसका अपना विशेष अस्तित्व है और उसका चरित्र, गोपियों की प्रेम की अग्नि-परीक्षा है । वह परोक्ष भाव से ही गोपियों के प्रेम भाव को व्यक्त करती है, यह कहकर उसके

महत्व को कम नहीं किया जा सकता, वस्तुतः वह गोपियों की प्रेमसाधना के लिए आदर्श है।

गोपियाँ

गोपियों का चरित्र सामूहिक है, व्यक्तिगत नहीं। और जब कि वास्तविकता यह है कि चरित्र व्यक्तिगत होना चाहिए! इस सन्दर्भ में डा० ब्रजेश्वर वर्मा का वह कथन उल्लेख्य है जिसमें वह कहते हैं कि, "यों तो जाति और पेशे के विचार से, ब्रज की समस्त नारियाँ गोपियाँ हैं, परन्तु इस शब्द का प्रयोग, अधिकतर उन किशोर कुमारियों और नवोढ़ाओं के लिए होता है, जिनका हृदय काम द्वारा, उद्वेलित होता है, और जो कृष्ण के प्रति प्रेमिका का भाव रखती है, अवस्था, परिस्थिति और भाव प्रवणता की दृष्टि से वे समान हैं, और कवि ने गोपियों को सामूहिक रूप में चित्रित किया है, कुछ नामोल्लेख भी किये हैं।' आगे चलकर डा० वर्मा गोपियों में भेद की कल्पना भी करते हैं। परन्तु मेरी निश्चित मान्यता यह है कि सूर की गोपियाँ प्रतीक रूप में चित्रित हैं, पेशे या जाति के आधार पर नहीं, और इसीलिए गोपियाँ बृज के बाहर भी संभव हो सकती हैं अपने दार्शनिक परिवेश में वे कृष्ण के प्रति प्रेमभावना से समर्पित हैं, उनका यह समर्पण विकासमान है क्योंकि वह सिद्ध नहीं साध्यमान है। उनका चरित्र सामूहिक रूप से भी चित्रित नहीं, क्योंकि चरित्र सदैव व्यक्तिगत होता है, अतः गोपियाँ प्रतीक हैं! सूर सागर में जितने भी उपालम्भ हैं, वे श्रीकृष्ण से संबंधित हैं और उनसे उनकी रागचेतना ही अभिव्यक्त हुई है।

पौराणिक विश्वास के अनुसार गोपियां ऋचाओं की अवतार हैं। और ऋचा है क्या? वैदिक ऋषि को परम सत्ता और उसके दृश्य रूप का जो साक्षात्कार होता है, ऋचा में उसी की अनुगीति होती है। ऋचा के अवतार की कल्पना के सन्दर्भ में यदि देखा जाये तो सगुण साकार के सौंदर्य की अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति ही गोपी है! यह अभिव्यक्ति कभी मौन है और कभी मुखर। अन्तर दोनों में यह है कि 'ऋचा' परम अस्तित्व के दिव्य और सार्वभौम रूप पर विस्मय-विस्फारित है, जब कि गोपियाँ उसके दृश्य सौंदर्य और ललाममयता पर भावविभोर। परम सौंदर्य के प्रति सम्पूर्ण समर्पण और व्यक्तिगत अस्तित्व बोध के बीच जो अन्तर्द्वन्द्व हो सकता है, गोपियाँ उसी की प्रतीक हैं।

गोपियों का प्रत्यक्ष चरित्र प्रिय की लीलाओं के सन्दर्भ में ही आता है। शेष प्रसंगों में वह अप्रत्यक्ष रूप से ही अंकित है। बाल-लीलाओं के सन्दर्भ में गोपियों की सबसे सहज प्रतिक्रिया यह है कि वे मुग्ध हो रहती हैं। माखन चोरी में वह श्याम से जितनी चतुराई देखती हैं वह उतनी ही मुग्ध हो उठती हैं। लगता है इन लीलाओं में कवि का उद्देश्य है श्याम की वचन चातुरी दिखाना, गोपियों के आकर्षण का मुख्य हेतु भी यही है। एक ओर शिकायत करते रहना और दूसरी ओर क्रीड़ाओं में सक्रिय रुचि लेते रहना, गोपियों की सहज प्रवृत्ति है। लीलाओं के बीच श्याम कभी किसी विशेष गोपी के प्रति आकृष्ट होते है और वह गर्वस्मित हो उठती है, परन्तु उसमें

अधिक कोई-जानकारी हमें प्राप्त नहीं। दधिलीला में भी लगभग यही स्थितियाँ मिलती हैं। अलूखल बंधन में यह स्पष्ट हो जाता है कि गोपियां क्या सचमुच यह चाहती हैं कि श्याम को सजा मिले ? चाहे प्रसंग घटनात्मक हो या भावात्मक गोपियाँ श्याम के समीप बने रहने के अवसर की ताक में रहती हैं। गोदोहन से लेकर गोचारण लीलाओं तक गोपियाँ प्रत्यक्ष रूप में नहीं आतीं, गोचारण की लीला का सबसे मार्मिक महत्व यही है कि प्रिय के सौंदर्य की गहनतम प्रतिक्रिया उनके मन पर होती है। 'कालिया दमन' जैसी घटनाओं की चाहे जो गंभीरतम प्रतिक्रिया उनमें हुई हो, वास्तविकता यह है कि इसमें उन्हें अपने प्रिय की असीम शक्ति का एहसास होता है। 'मुरली-स्तुति' का प्रसंग उनमें असूया भाव जगाता है, परन्तु इसके बाद वे श्याम रंग में डूबकर अपनी लाज खो बैठती हैं।

गोपी तजि लाज प्रेम रंग डूबी

रासलीला उनकी प्रेम साधना की सामूहिक उपलब्धि है, वे अत्यंत उन्मद् अवस्था में हैं। उनकी सबसे बड़ी सामूहिक विशेषता यह है कि चाहे उनमें जो भी ईर्ष्या, उपालंभ या असूया रही हो, राधा-कृष्ण के निरन्तर बढ़ रहे 'प्रेम-संबंध' पर ज़रा भी व्यंग्य नहीं करतीं, यद्यपि राधा को छेड़ने में वे कुछ नहीं रखतीं।

इसके बाद हम उनके चरित्र को वियोग की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के सन्दर्भ में अंकित पाते है। अक्रूर के साथ प्रिय के प्रस्थान कर जाने में वे 'चित्रलिखित' सी रह जाती हैं। यद्यपि वे अनुभव करती हैं, यह उनके लिए 'आत्महत्या' से कम नहीं। उनका विश्वास है, **"प्रीत मीर बोई न विचोर।"** इस प्रकार जब धीरे-धीरे उनकी पीड़ा गहरा रही थी कि उद्धव आ पहुंचते हैं। उद्धव के आने के पूर्व एक और विषम प्रसंग में वे झेल चुकी हैं, वह है, कृष्ण-कुब्जा का वृतांत। यह सुनकर, जो आत्मघुटन गोपियों को उद्वेलित कर रही थी - उद्धव के उपदेश के बहाने उन्हें उसे निकालने का सुनहला अवसर हाथ लग जाता है। भ्रमर की ओट में उनके हृदय की सबसे तीखी और मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। इसमें से उभर कर आयी है उनकी चरित्रगत निष्ठा और उत्तर देने की क्षमता ! योग छूकर वे अपनी साधना को कलंकित नहीं कर सकती ! **ऊधौ जोगहि न छुएँ, छुयें तो प्रेम लजाहिं**

राधा और गोपियों के बीच तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। राधा उनके प्रेम की आदर्श है, वे राधा की पैरवी करती हैं, और अब वे हैं, प्रेमयोग की प्रमुख प्रवक्ता। जब उद्धव अपना मत प्रस्तुत करते हैं, तो वे उसकी धज्जियाँ बखेर देती हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि साधारणतया परम्परा की अवहेलना करने की सोच भी नही सकती। सच तो यह है कि संयोगकाल का भौतिक समर्पण, भ्रमरगीत में आध्यात्मिक समर्पण का रूप ग्रहण कर लेता है। वे कृष्ण से प्रेम ही नहीं करतीं, अपितु उनके प्रेम को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करती हैं। व्यक्तिगत स्तर पर यद्यपि वह अस्तित्व-बोध में विश्वास नहीं करतीं, परन्तु जब हठयोग या ज्ञान के माध्यम से उन्हें ईश्वर की व्यापकता पाने को कहा जाता है, तो वह प्रेम की वैयक्तिकता पर

सबसे अधिक बल देती हैं । भ्रमरगीत के तर्कों में से उनका उतना नहीं, जितना कि प्रेमाभक्ति का चरित्र हमारे सामने आता है ।

इस प्रकार कृष्ण के प्रति समर्पण के भाव को निरन्तर विकसित करते रहना ही गोपीभाव है । कृष्ण की मानवीय लीलाओं की सबसे बड़ी सार्थकता यही है कि वे उनके प्रेम को गतिशील रखती हैं । और सूर का कवि इसीलिए उन्हें एक मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रदान कर सका है । प्रौढ़ा, खंडिता, यौवना आदि भेदों में गोपियों को रखना अशास्त्रीय है ।

१० | मूल्यांकन और उपलब्धियाँ

पूर्व परम्परा के सन्दर्भ में, अब तक के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भ्रमरगीत में नियोजित तत्व परम्पराओं में अवश्य मिलते है, किन्तु उन्हें काव्य विधा के रूप में नियोजन, इसके पहले देखने में नहीं आया। भ्रमरगीत के ये तत्व है विरह, उपालंभ, दौत्य, गीतात्मकता, व्यग्य इत्यादि। इसमें दो मत नहीं कि भ्रमर की दूत रूप में कल्पना और उपालंभ की बात, सूर ने श्रीमद्भागवत से ग्रहण की। परन्तु भागवत में, 'भ्रमरगीत' मात्र एक प्रसंग है, जबकि सूरसागर में मानवी लीला-काव्य का एक हृदय-स्पर्शी अंश। इस अंश में राधा और कुब्जा दो प्रतिपक्ष हैं, वास्तविक पक्ष में गोपियाँ है न कि उद्धव। सच तो यह है कि उद्धव को जबरन बलिवेदी पर ले जाया गया है। नहीं तो कृष्ण, और गोपियां जानती है कि उद्धव की हार निश्चित है। गोपियाँ जितनी कुब्जा पर बरसती हैं, उतना उद्धव पर नहीं। भागवत और ब्रह्मवैवर्त से प्रभाव ग्रहण करके भी सूर का कवि, कृष्ण के लीला-काव्य को ऐसा मौलिक रूप देता है, जो परवर्तीकाल में हिन्दी-काव्य की परम्परा को दूर तक प्रभावित करता है। इतना ही, सूर वैवर्त के तन्त्रवाद और भागवत के ज्ञान से प्रेमाभक्ति को शुद्ध करते हैं। उनका लीलाकाव्य परम्पराओं की इसी मुक्ति हेतु है। उसमें सर्जना की उन्मुक्त प्रतिभा और संवेदन की अभिव्यक्ति है।

जहाँ तक भ्रमरगीत की वस्तु योजना का सम्बन्ध है, वह सूर के लीलाकाव्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। यह लीला काव्य, विशुद्ध रूप से कृष्ण की मानवी लीलाओं से सम्बद्ध है। सूर इनका चित्रण प्रेमाभक्ति की साध्यमानता के संदर्भ में करते हैं। सूर अपनी अलौकिक साधना को कितनी मानवी पृष्ठभूमि दे सके, यह वैवर्त और भागवत से सूरसागर के तुलनात्मक अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकता है। परम्परा की तुलना में सूर की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह गीतधारा को इतिवृत्त में ढाल सके। सूर के कवि की गीतचेतना, मात्र व्यक्तिचेतना नहीं, अपितु वह समाजचेतना से सम्पृक्त है, और यह कि वह परम्परागत आधार पर काव्य रचना करके भी अपनी सृजन–प्रतिभा को मौलिक प्रमाणित कर सके। यह उसकी एक महान उपलब्धि है। वह एक परम्परागत संदर्भ को अपनी ही अनुभूतियों में साक्षात्कार नहीं करता परन्तु काव्य प्रक्रिया में उसे अभिव्यक्ति भी दे सका, 'सूर सागर' अपने समग्ररूप में न तो प्रबन्ध काव्य है और न 'गीत काव्य'।

प्रबन्ध काव्य और गीत काव्य का यह विभाजन, वस्तुत: काव्यशास्त्र का विभाजन है जो युग विशेष की काव्य विधाओं को ध्यान में रखकर किया गया है । फिर भी, यह विभाजन यह नहीं कहता कि गीत काव्य और प्रबन्ध काव्य में विरोध है और न यह भी अनिवार्य रूप से माना जा सकता है कि रचना क्रिया में शास्त्रीय विभाजन में किसी कवि को निर्देशित किया जा सकता है । इस प्रकार उत्तर कालीन संस्कृत प्रबन्ध काव्य परम्परा में नाटकीय तत्व समाहित हैं, उसी प्रकार अपभ्रन्श चरित काव्यों में गीत तत्व । सूरसागर, सूर की रचनाओं का संग्रह है, एक निश्चित काव्य रूप नहीं । उसमें दो काव्य रूप स्पष्ट रूप से हैं (और यह सभी स्वीकार करते है) 'पदगीत काव्य, और 'लीला काव्य' । यह लीला काव्य दसवें स्कन्ध में है और जिसमें संयोग-वियोग की समस्त लीलाएँ आती हैं । पूर्वार्ध में संयोग है तो उत्तरार्ध में वियोग । जिसप्रकार कवि पूर्वार्ध में संयोग की विभिन्न स्थितियों तथा उनसे उत्पन्न होने वाली मानसिक प्रतिक्रियाओं का वर्णन करता है उसी प्रकार उत्तरार्ध में वियोग और उसकी विभिन्न भूमिकाओं का उल्लेख करता है । 'भ्रमरगीत' इसी का एक विशिष्ट प्रसंग है, जो सूर के समूचे लीला काव्य के उद्देश्य को पूर्णता पर पहुँचाता है ।

भ्रमरगीत कवि का तथाकथित उन्मुक्त उच्छ्वास नहीं, उसमें पूर्वसंदर्भ हैं । उसनें वियोग और संयोग दोनों के पिछले संदर्भ आते हैं जो इस बात का प्रमाण है कि कवि मन में भ्रमरगीत की कल्पना पहले से थी । यह संदर्भबद्धता तभी संभव है जब भ्रमरगीत को पूरे लीलाकाव्य के संदर्भ में देखा जाय । यह लीलाकाव्य एकान्त रूप से संयोग काव्य नहीं है, और न मेघदूत अथवा संदेश रासक की तरह विरह काव्य । वह अपभ्रन्श के उन चरित्र काव्यों की परम्परा में आता है जिसमें जीवन के संयोग और वियोग के दोनों पक्ष हैं । सूर का यह लीला काव्य वह प्रेम काव्य है जिसका उद्देश्य है मनुष्य की क्षुद्र और क्षणिक राग-चेतना का उदात्तीकरण । इस उदात्तीकरण के संदभ में सूर के भ्रमरगीत के अध्ययन का अर्थ है उनके समूचे लीलाकाव्य का अध्ययन, और फिर मैं समझता हूँ कि लीला काव्य के अध्ययन के पश्चात सूर सागर में ऐसा कुछ शेष नहीं रहता कि जो सूर के वास्तविक मूल्यांकन के लिए जरूरी हो । अत: भ्रमरगीत की वस्तुयोजना का अध्ययन लीलाकाव्य की वस्तुयोजना का अध्ययन है, क्योंकि वह, प्रेमाभक्ति काव्य का ही एक अंग है । उसकी राग चेतना की एक प्रतिक्रिया या प्रतिध्वनि है । वह उस प्रेमाभक्ति की अग्नि परीक्षा है जिसका प्रादुर्भाव, बचपन की प्रेमक्रीड़ाओं में हुआ था, यह गोपियों के अस्तित्व का एक मात्र आधार है । यह परीक्षा घटना में नहीं, भावना में है, महान् कार्यो में नहीं, अनुभूति मे है ।

भावों की अभिव्यंजना के संदर्भ में सूर की परम्परागत अनुपलब्धि की तुलना में उनकी विशिष्ट उपलब्धि विशेष महत्व रखती है । परम्परागत अनुपलब्धि यह है कि सूर में भावों का विस्तार नहीं है, परन्तु ऐसा कोई शास्त्रीय विधान भी नहीं है कि हर कवि में भावों का विस्तार हो ही । लेकिन 'रति' जो चेतन-सृष्टि की व्यापकतम वृत्ति है, उसकी व्यंजना में सूर का कवि कोई कसर नहीं रखता । उसके अलाम्बन

और संदर्भों से हम असहमत हो सकते हैं पर अभिव्यंजना की पूर्णता और अनुभूति की तन्मयता में बहुत कम कवियों की पहुँच सूर के बराबर है। इस उपलब्धि की विशेषता यह है कि कवि आध्यात्मिक और लौकिक प्रेम की सीमाओं को मिटा देता है, विशुद्ध मानवीकरण-धरातल पर प्रेमाभक्ति की धारा 'काव्य-प्रक्रिया' के माध्यम से यदि कोई कवि वहा सका है तो वह सूर। श्रृंगार की व्यापकता के साथ वात्सल्य की काव्य आलोचना में रस रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय सूर को है। ढवलगीतों और लोक-परम्परा में कृष्ण की लीलाएँ लोकप्रिय थीं, भक्ति की धारा में भी इन लीलाओं का शास्त्रीय समर्थन मिल चुका था। सूर का कवि सहज मान कर सन्दर्भ में इन लीलाओं का साक्षात्कार करता है और फिर काव्य-प्रक्रिया में उन्हें अभिव्यक्ति देता है। उसकी सफलता प्राकृत को अतिप्राकृत बनाने में नहीं वरन् अतिप्राकृत को प्राकृतिक सीमा में ले आने में है। वात्सल्य से सम्बन्धित लीलाओं में बालजीवन का सम्पूर्ण चित्र अंकित करते हैं, उनका यह चित्रण बाल मनोविज्ञान की प्रयोगशाला है। वह हरलीला की अनुभूति कराता है, उसे बुद्धिगम्य नहीं बनाता। इन लीलाओं के वर्णन में वह परम्परागत उपासनाओं की व्यर्थता इस चातुर्य से सिद्ध करता है कि उसे पकड़ना आसान नहीं है। अतिरिक्त इसके, इन बाललीलाओं के बहाने वह अच्छे-अच्छों को प्रेमाभक्ति का सबक, बात-की-बात में सिखा देता है। बाल-लीलाओं के दो आश्रय हैं, एक यशोदा और दूसरा नन्द। 'वात्सल्य' यशोदा की सम्पूर्ण समर्पण की एक मात्र कामना का प्रतीक है। लगता है कि 'मुक्ति' को सूर ने 'वात्सल्य' में खोजा है, दाम्पत्य में तो वे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते है। 'मुरलिया' कवि की प्रसंगोद्भावना का सबूत तो है ही, पर वह इस बात का भी स्पष्ट संकेत है कि सूर का कवि कुब्जा के व्यक्तित्व की परिकल्पना पहले ही कर चुका है। जब किसी काव्य में ऐसे पूर्वा पर संकेत हों, तो निश्चय ही वह नियोजित कथा है। मुरलिया का महत्व इतना ही नहीं है कि वह गोपियों की ईर्ष्या को भड़काने का एक माध्यम है, बल्कि यह भी की वह कृष्ण प्रेम की साधिका है। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में वह योगमाया की प्रतीक है और सगुण लीलागान के संदर्भ में वह रासलीला की मधुरतम पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है। सूर के कवि ने उसे पूर्णतम व्यक्तित्व प्रदान किया है। संयोग चित्रण वात्सल्य की पृष्ठभूमि पर अंकित है, प्राकृत और अप्राकृतिक का रागात्मक सामंजस्य उनके श्रृंगार की बहुत बड़ी उपलब्धि है, पर प्रतीकार्थ में आध्यात्मिक। यह प्रेमलीला धीरे-धीरे विकसित होती है, अपनी अनुभूति और क्षेत्रीयता दोनों में। वह आँगन की क्रीड़ा से 'खरक' तक पहुँचती है और तब, 'समूचे वृन्दावन' में फैल जाती है। गंधर्व विवाह द्वारा कवि इस प्रणयलीला को एक सामाजिक आधार देता है, यह राधातत्व की सामाजिक स्वीकृति है। उनके लिए कृष्ण के प्रेम की विचित्रता यह है कि वह सुख में भी गोपियों को साथ नहीं देते, सूर के प्रेम-चित्रण मे नाटकीयतत्व का समावेश है। निर्गुण कवियों की विरह भावना की अभिव्यक्ति शिल्प को भी गोपियाँ कभी-कभी मात दे देतीं हैं, और सूर का कवि अपनी संयोगलीला में निर्गुण-साधना के सभी उपकरण ले आता है। सूर की प्रत्येक

लीला के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं, कृष्ण प्रेम को सिद्ध दृष्टि से देखते हैं जब कि राधा साध्य दृष्टिकोण से। राधा के लिए 'मान' प्रेम की कसौटी है। कृष्ण की सामूहिक लीलाओं को एक वैयक्तिक संदर्भ देना भी सूर की शृंगार-वर्णन की महान उपलब्धि है, उनके शृंगार पर जसोदा का स्नेहिल अंचल है, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है कि सूर की ऐतिहासिक उपलब्धि है। निर्गुण प्रेम-साधना की विशेषताओं और मानसिक स्थितियों का अन्तर्भाव भी उसमें है। कुछ खोकर कुछ पाना और कुछ पाकर कुछ खोते रहने की प्रक्रिया ही सूर के कवि की शृंगार साधना है, इस प्रेम लीला में कवि के दुहरे अभिप्राय हैं, एक अभिप्राय है प्राकृतभूमि पर तो दूसरा अप्राकृत भूमि पर। विशेष उल्लेखनीय यह है कि संयोग में वियोग की अपेक्षा अप्राकृत के प्रति संकेत अधिक हैं। अभिनय और चित्रात्मकता के प्रति, सूर के कवि का विशेष लगाव है। वह एक ओर जहाँ वियोग में संयोग के घटनाचित्र खींचता है वहाँ दूसरी ओर संयोग के विह्वल क्षणों में पौराणिक घटनाचित्रों की सजीव चित्रकारी। गन्धर्व विवाहोपरान्त एक मोड़ आता है, यह मोड़ है उनकी ऐकान्तिकता और क्षेत्रविस्तार। सूर का कवि, प्राकृत में अप्राकृत को ही संकेत नहीं करता, अपितु भाव में अभाव एवं भोग्य में अभोग्य के प्रति भी इंगित करता है। पनघट-लीला में प्राकृत-अप्राकृत के संकेतों की भरमार है। उसमें निर्गुण प्रेम-साधना की भी प्रतिक्रियाएँ है। **जित देखों तित तूं** की मानसिक उपलब्धि जो निर्गुण-साधना की सबसे बड़ी उपलब्धि कही जाती रही है, गोपियाँ पनघट लीला में ही पा लेती हैं, इससे स्पष्ट है कि सूर का कवि निर्गुण-साधना को सकारात्मक स्वर में भी देखता है। पनघट-लीला की सबसे बड़ी उपलब्धि है प्रिय के प्रति एकात्मभाव। मानलीलाओं के परिप्रेक्ष्य में, सूर का मुख्य उद्देश्य यह है कि वह गोपियों की विशेषाधिकार भावना को क्षीण देखना या करना चाहता है। इसलिए राधा मान को प्रेम का सहायक स्वीकार करती है। वह प्रिय को प्रेम की कसौटी पर कसती है। इस प्रकार सूर के लिए-संयोग का अर्थ प्रेम का योग नहीं, बल्कि उसका परीक्षण है। दूसरे को पाने की अपेक्षा अपने को ही अधिक पाने की प्रक्रिया है। सूर के प्रेम का आलम्बन वह सौन्दर्य है जो रूप की सर्वोत्तम भेंट है। वह सामूहिक लीलाओं का भक्तीकरण है, यह विभिन्न लीलाओं के स्तर पर विकसित होता है। कवि इनमें निर्गुण-साधना की आन्तरिक स्थितियों को ले जाता है। उनका मुख्यतम लक्ष्य रागात्मक चेतना को निरन्तर आन्दोलित रखना है।

सूर के वियोग की प्रारंभिक भूमिका निःसंदेह पौराणिक है। मानसिक रूप से वे श्याममता के प्रति समर्पित है। इस वियोग की तीन भूमिकाएँ हैं—भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक। इनका विस्तार से उल्लेख पिछले अध्यायों में हो चुका है। सूर के वियोग वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है, उसमे विषमता के कई स्तर हैं। इनका सम्बन्ध निश्चित रूप से सूर के युग समाज से है। दूसरे गोपियाँ व्रजभूमि के प्रिय के साहचर्य-दृश्यों की यादों का आँसुओं से अभिषेक करतीं हैं, कुब्जा उनके उन्माद विरह तीव्रता और मूर्धा का सबसे बड़ा कारण है। उन्हें विश्वास हो

हो गया है —दोनों के बीच एक गहरी खाई है। वर्षा के संदर्भ में अपनी वियोगानुभूतियो के चित्रों को अंकित करतीं हैं, कुब्जा प्रसंग की प्रतिक्रिया गोपियाँ भूल ही रही थीं कि उद्धव विरह की नई आग जगाने आगए, भ्रमरगीत इसी नई आग को बुझाने का भावात्मक अकच काव्यात्मक प्रयास है। यहाँ पर भी कवि पक्ष प्रतिपक्ष की कल्पान करता है। वियोग की तीखी और व्यापक प्रतिक्रिया देखते हुए, यह कहना अनुचित नहीं कि सयोग का चित्रण, सूर के वियोग का एक अंग है। तरह-तरह के विचार और तर्क उनके इर्द-गिर्द चक्कर काटते हैं, परन्तु तीसरी भूमिका में आकर उनकी प्रतिक्रिया एक निर्णयात्मक मोड़ पर होती है। वियोग की स्थितियों को भोगने के बाद वे विश्वास करती हैं, और यह विश्वास उनके जीवन का अंग हो गया है कि प्रेम आत्मघात नहीं, आत्मा का निर्माण है, उसकी शक्तियों को पहचान कर उन पर निर्भर रहना है। वास्तव में भ्रमरगीत में हुई उद्धव की हार, गोपियों की जीत नहीं, वरन उनकी सिद्धि है।

भ्रमरगीतसूर के वियोग वर्णन का एक अंग है यह त्रिकोणात्मक है, उनका उद्देश्य है वियोग की समूची प्रक्रिया की ससदर्भ अभिव्यक्ति। यह अभिव्यक्तिसंयोग की पृष्ठभूमि पर होती है। संयोग और वियोग में सूर का उद्देश्य एक है, केवल स्थितियाँ बदलती है। एक में प्रेमाभक्ति अपने भौतिक परिवेश में है, तो दूसरे, में मानसिक और आध्यात्मिक परिवेश में। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन बिल्कुल उचित है कि "भ्रमरगीत का उद्देश्य निर्गुण का खंडन करना नहीं है, इसमें वे अपने प्रिय से तादात्म्य करना चाह रहीं हैं, वे अपने प्रिय का अश्रुओं से अभिषेक करना चाह रहीं हैं।"

निःसन्देह गोपियों का उद्देश्य, निर्गुण का खंडन करना नहीं, पर प्रश्न है कि प्रिय से वे कैसा तादात्म्य स्थापित करना चाहती हैं, किन्तु यह तो गोपियों का उद्देश्य है, सूर का अपना उद्देश्य क्या है जिसके लिए वे इतनी सृष्टि करते हैं। यह उनका व्यक्तिगत प्रयोजन हो सकता है। मेरे विचार में सूर का उद्देश्य है, प्रेमाभक्ति का जनमानस में साक्षात्कार– **भ्रमरगीत जो सुनै सुनावै, प्रेमाभक्ति गोपिन की पावै।**

प्रिय के प्रति प्रेम की सतत प्रयोगशीलता ही उनकी प्रेमाभक्ति की सही-विशेषता है। उसमें आँसुओं से प्रिय का अभिषेक नही है, वरन् साधन की अग्नि-परीक्षा है। भ्रमरगीत में वे अपने अस्तित्व और आदर्शों के लिए संघर्ष करती है, यह सघर्ष तीन स्तरों पर है। भावना के स्तर पर, बुद्धि स्तर पर और समाज के स्तर पर। वे अपने अस्तित्व रूपी लोहे के चुम्बकीय आकर्षण को नहीं छोड़तीं। अंगीकृत पथ से हटना उनके लिए संभव नहीं, स्थिरता और निडरता उनकी साधना की सबसे बड़ी उपलब्धि है। तर्क से अधिक, हृदय से छूने वाली उक्तियों से वे अपने प्रतिद्वन्दी को प्रभावित करती है। वे इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का उदाहरण है कि एक बार अंगीकृत और आत्मसात की गई चीज को छोड़ना असंभव है। काल्पनिक आदर्श

की अपेक्षा उन्हें जीवन की वास्तविकता चाहिए। प्रेम में विशेषीकरण अपरिहार्य है। सब कुछ से न तो एक को हम प्यार कर सकते हैं और न घृणा। इसीलिए वे अपने आपको हर स्थिति में सन्तुलित रखतीं हैं। कुब्जा का उपयोग वे हठयोग या निर्गुण उपासना की दुर्बलता के रूप करती हैं। उपालंभ के लिए भ्रमर की ओट काफी थी, परन्तु व्यंग्य के लिए कुब्जा जरूरी थी। रूपक की चिरपरिचित शैली सूर अपनाते हैं, मात्र काव्य शोभा के लिए नहीं, अनुभूतियों की सम्प्रेषणीयता के लिए। वियोग-वेदना के संदर्भ में वे अतीत के चल स्मृति चित्रों का सुन्दर मनोवैज्ञानिक उपयोग करतीं हैं। गोपियाँ अपनी अनन्यता और दृढ़ता सिद्ध कर सकीं, उसका बहुत सा श्रेय कुब्जा को है।

उद्धव पर उनका सबसे बड़ा आरोप है कि वे गोपियों को पीड़ा पहुँचाने के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि उनका प्रेम से पाला नहीं पड़ा, दूसरे वे किसी अन्य असाध्य रोग से पीड़ित हैं। उनकी-बहुत सी प्रतिक्रियाएँ, शारीरिक मुद्राओं में होती हैं और उसका सीधा एवं गहरा प्रभाव पड़ता है। उद्धव के उपदेश, उनकी बुझी आग को सुलगाते हैं जो उन्हें 'न मरने और न जीने' की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। अतएव यदि वे अस्तित्व के लिए संघर्ष की स्थिति में कुछ कहतीं हैं तो यह उनका मृत्यु के पूर्व का वक्तव्य है और इसी वक्तव्य में ही आत्मप्रकाशन कर वे अमर हो जातीं हैं। वे कह उठतीं हैं—

स्रवन सुधा मुरली के पोखैं जोग जहर न खवाव रे

योग अस्वीकार करने से पूर्व वे कितने ही तर्क देती हैं। वे एक की जगह दो सुनाने से नहीं चूकतीं। कभी उनके तर्क भाव के स्तर के होते हैं और कभी बुद्धि के। भ्रमरगीत, केवल उद्धव को ही प्रेमाभक्ति में दीक्षित नही करता, अपितु अपने पाठक को भी करता है। जहाँ तक गोपियों की निष्ठा का प्रश्न है, वे "प्रेम की विरह-वेदना से भरी हुई व्रज सुन्दरी के रूप में जीना चाह रही हैं।" इस प्रकार प्रेमाभक्ति में दीक्षित होकर भी वे उसकी अग्नि-परीक्षा की प्रतीक हैं। यह सूर के लीला काव्य का प्रतिपाद्य है। इसके अतिरिक्त गोपियाँ संयोग के चित्र अंकित करती हैं, इन चित्रों में वे संयोग की कुछ चुनी हुई मार्मिक घटनाओं का उल्लेख करती हैं। ये चित्र उनके वैयक्तिक कोण को एकदम स्पष्ट रख देते हैं। भ्रमरगीत में गोपियों की भाव चेतना को सबसे अधिक सक्रिय यदि कोई पात्र रख सका है तो वह है। कुब्जा। कुब्जा ही संदेह की वह पृष्ठभूमि है, जिस पर उद्धव के तर्क, गोपियों में अपना प्रभाव खो देते है। वे यह विश्वास न करने का कोई कारण नहीं देखतीं कि यह रूप कुब्जा की करतूत का फल है। कुब्जा के व्यक्तित्व और मथुरा में उसकी स्थिति को लेकर गोपियाँ उन सब मानवीय शंकाओं में बह जाती हैं कि जिनमें मनुष्य बह सकता है। वे उसे अपनी प्रतियोगिनी के रूप में स्वीकार करती हैं। ईर्ष्या या आशंका प्रेमा-भक्ति की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, कुब्जा तो केवल उसकी प्रतीकात्मक आलम्बन है। कुब्जा के प्रति गोपियों की उक्तिया मुरलिया के प्रति मिलती जुलती है।

इन सबके अतिरिक्त भ्रमरगीत में सबसे सबल वह तर्क है जिसमें वह कहती हैं कि प्रिय के साथ एक क्रीड़ामय अतीत भोग चुकने के बाद दूसरे विकल्प को स्वीकार ने की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। वे उस साधना में विश्वास करती हैं जो उन्हें जीवित रखता है, समाधि की मुक्ति या मुक्ति की समाधि में उनका विश्वास नहीं। एक अपरिचित के साथ नया सम्बन्ध स्थापित करने के बजाय वे अपनी परिचित दुनियां नहीं छोड़ सकतीं।

सूर की भाषा का शिल्प अपने चरमोत्कर्ष पर जब होता है तो वह लोकोक्तियों और मुहावरों में है। और ये दोनों अधिकतम रूप से उपलब्ध है भ्रमरगीत में। लोकोक्ति और मुहावरें के विकास की कहानी और परिभाषा विवाद से भरी हुई है। किन्तु सूर काव्य के आलोचकों ने जो कुछ इस सम्बन्ध में लिखा है, वह निश्चित रूप से भ्रान्तिजनक है। 'मुहावरा' वस्तुतः एक लाक्षणिक क्रिया है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की सभ्यता और उसके विकास से है। हिन्दी में जिन पण्डितों ने इस पर विचार किया है, वे वास्तविक स्थिति नही समझ सके। सूर से बढ़कर उस युग में कौन ऐसा कवि था जो मुहावरे और लोकोक्तियों की शक्ति को पहचान पाता।

प्रकृति को सूर के कवि ने मानवी अनुभूतियों के सन्दर्भ में ही स्वीकारा है। विशेष रूप से विरह वर्णन के प्रसंग में। उनके प्रकृति चित्रण का प्रथम संदर्भ भाव लीला है जिसमें संयोग की कीड़ाएँ हैं। वह प्रकति और नारी के सौन्दर्य को एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में देखता है। बसंतलीला में भी सूर के प्रकृति चित्रण का दूसरा संदर्भ आता है वियोगवर्णन में। इसमें वर्षा की सबसे अधिक प्रतिक्रिया गोपियों पर होती है। प्रकृति-चित्रण का दूसरा सन्दर्भ है वियोग दर्शन का **'मधुवन तुम कत रहत हरे'** में अधिक आत्मीयता है। ऐसी उक्तियों के पीछे गोपियों का अनुभूत सत्य है। गोपियाँ स्वयं आश्चर्य के साथ, यह अनुभव करती है कि उनकी आँखों ने बरसने में बादलों को हरा दिया। इस प्रकार की अनुभूतियों में प्रकृति से उनका तादात्म्य स्थापित हो जाता है। **"सखी इन नैनन तैं घनहारे"** जैसी जितनी प्रतिक्रियाएँ प्रेमी हृदय पर संभव हो सकतीं हैं, उनका उल्लेख गोपियाँ करती हैं। सूर के प्रकृति चित्रण में उल्लेखनीय बात यह है कि वह अनुभूतियों के संदर्भ में अधिक है शस्त्रीय संदर्भ में कम। नेत्र विषयक उक्तियों में विरह की तीव्रता विशेष रूप से ध्वनित है। शास्त्रीय अर्थ में सूर का प्रकृति - चित्रण उद्दीपन अलंकृत शैली में आता है परन्तु उसमें अनुभूति का स्पर्श भी है।

सूर ही नहीं मध्य युग के सभी हिन्दी कवियों के चरित्र-चित्रण की अपनी सीमाएँ हैं। जहाँ तक सूर का सम्बन्ध है उनके चरित्र प्रतीक चरित्र हैं। तुलसी के चरित्रों की तुलना में सूर के चरित्र मे एक विशेषता यह है, उनके अधिकांश चरित्र अनैतिहासिक हैं, यथा—राधा, कुब्जा या स्वयं कृष्ण का बालगोपाल रूप।

श्री कृष्ण का चरित्र-सूर के काव्य का केन्द्रीय चरित्र है, फिर भी उनकी नियति सूर की भक्तिवादी दृष्टिकोण से बँधी हुई है! वह अपनी मानवीय लीलाओं को सहज प्राकृतिक पृष्ठभूमि पर अंकित करता है। उनके चरित्र-चित्रण में परम्परा का उल्लेख

है । यह कहना कि वे सौन्दर्य के सागर हैं, शक्ति में अप्रतिम हैं, मेरे विचार में कृष्ण के चरित्र का सबसे सुन्दर चित्र वह है जो बाललीलाओं में अंकित है जिसमें वे सब रंग हैं जो मानव जीवन में संभव हो सकते हैं । तुलनात्मक दृष्टि से मैं सूर को बाल जीवन के चित्रकार के रूप में अधिक सफल मानता हूँ । उद्धव का चरित्र एक चरित्र या उपचरित्र है, उन्हें एक भूमिका निबाहने के लिए अवतरित होना पड़ा। नन्द का चरित्र भी लगभग उसी दृष्टि से व्यजित है । वैसे दोनों की परिस्थितियाँ और उद्देश्य अलग-अलग हैं । यशोदा आध्यात्मिक सन्दर्भ में वात्सल्य भक्ति की प्रतीक है । उसका चरित्र इसी पृष्ठभूमि पर अंकित है । वह मातृत्व और आत्मीयता की पूर्णता का प्रति निधित्व करनी है । अपने चरित्र के सभी सन्दर्भो में उसका वात्सल्य श्याम के प्रति समर्पित है । राधा के व्यक्तित्व के कई सन्दर्भ हैं, वह कृष्ण की पूरक भी है और पूर्णता भी । उसका जन्म कृष्ण की मानलीलाओं का भार वहन करने के लिए ही हुआ । उसका चरित्र व्यक्ति नहीं, प्रतीक है और उसके कई सन्दर्भ हैं । ऐतिहासिक सन्दर्भ में वह आभीरों की प्रेमदेवी बताई जाती है जिसे कृष्ण-गोपाल की एकीकरण प्रक्रिया में कृष्ण की जीवन संगिनी के रूप में स्वीकार कर लिया गया । पौराणिक सन्दर्भ मे वह शक्ति की प्रतीक है और दार्शनिक संदर्भ मे वह प्रकृति की प्रतीक है । मानवीय सन्दर्भ में वह कृष्ण की लीला सहचरी है, प्रेमा भक्ति के सन्दर्भ में वह उसकी साधिका है । सूर के कवि के सन्दर्भ में वह ब्रज की मध्ययुगीन संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु उसकी विशेषता यह है कि प्रतीकात्मकता में वह अपनी लोक संवेदना नहीं खोती और यह कि समय के प्रवाह में तिरता हुआ उसका चरित्र अपनी सीमाओं में एक गतिशील चरित्र रहा है । वह प्रेमाभक्ति की दीपशिखा है, जो प्रिय की उपस्थिति में आलोकित होती ही है, परन्तु उसके विरह में वह समस्त पीड़ाओं को आत्मसात कर आशा की अरुणिम आभा बिखेरती है । कुब्जा का चरित्र राधा का प्रतियोगी चरित्र है । उसके चरित्र के वास्तविक परिप्रेक्ष्य को सूर-साहित्य के बहुत कम आलोचक समझ सके हैं। वह प्रेमाभक्ति की सिद्धावस्था में है । राधा रूप की जिस मर्यादा में घिरी है, कुब्जा उसे तोड़ चुकी है । वह आत्मसौन्दर्य की पुजारिन है । वह इस आदर्श की मूक घोषणा है कि आत्मा के सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए देह के सौन्दर्य का गोपन करना ही होगा । मेरे विचार में गोपियों का चरित्र सामूहिक है, व्यक्तिगत नहीं । उनमें साधना, पेशा, जाति या किसी और आधार पर भेद करना ठीक नहीं । अपने दार्शनिक परिवेश में वे कृष्ण के प्रति समर्पित है साथ ही वे समर्पण की विकासमान स्थितियों में अपनी साधना का क्रम बनाए रखती है । पौराणिक सन्दर्भ मे, सूर उन्हें ऋचाओं का अवतार मानते हैं, इस अर्थ में वे सगुण साकार के सौन्दर्य की अनुभूति की रागात्मक अभिव्यक्ति गोपी ही है । परम सौन्दर्य के प्रति समर्पण और अस्तित्व-बोध के बीच जो अन्तरद्वन्द्व संभव है, गोपी उसी की प्रतीक है । इस प्रकार, कृष्ण के प्रति समर्पित प्रेम को निरंतर सक्रिय रखना ही गोपी भाव है ।

११ | सूर-काव्य के अध्ययन की ऐतिहासिक रूपरेखा

सूर-काव्य के अध्ययन की प्रक्रिया तब प्रारम्भ हो जाती है, जब भारतेन्दु बाबू 'साहित्यलहरी' के एक वंश परिचायक पद के आधार पर, सूरसागर की भूमिका (वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित और राधा कृष्ण द्वारा संपादित) में यह सिद्ध किया कि सूरदास चंदवरदाई वंश के थे और मुसलमानों से लड़ते हुए, जब कई पुत्र मारे गये, तो इनके पिता गरीबी से तंग आकर 'सीरी' गाँव चले आये। राधाकृष्ण ने भी अपने 'सूरदास' लेख में इस बात का समर्थन किया है।

सूर के अध्ययन की दूसरी भूमिका वह है जिसमें उनके पदों के संकलन-संपादन का सिलसिला चल पड़ता है। वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित 'सूरसागर' के दो संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किये जाते है। एक वियोगी हरि का साहित्य-सम्मेलन से, दूसरा प्रो० वेनी प्रसाद का इंडियन प्रेस से। नवल किशोर प्रेस लखनऊ से भी, एक संस्करण निकला। १८१२ ईसवी सन् में 'खड्ग विलास प्रेस' बांकीपुर से साहित्यलहरी प्रकाशित हुई। बाद में इसका एक संस्करण महादेव प्रसाद की टीका के साथ, 'पुस्तक भंडार लहेरिया सराय' से प्रकाशित हुआ। स्वर्गीय रत्नाकर जी ने भी सूरसागर का संपादन किया था, जिसके कुछ भाग नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित हुए, बाद में पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसे पूरा किया। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित, सूरसागर का संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित हुआ। पंडित वाजपेयी की 'सूर-सुषमा' और लाला भगवान दीन का 'सूर पचरत्न' भी सूरसागर पर आधारित छोटे-छोटे संग्रह हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमर-गीत-सार' शीर्षक से सूरसागर के पदों का विशेष संदर्भ-संकलन- संपादन किया, जो विशेष महत्व रखता है।

सूर-काव्य के अध्ययन की वास्तविक प्रक्रिया, 'भ्रमरगीत-सार' की भूमिका से प्रारम्भ होती है। इसमें सूर-काव्य की विस्तृत आलोचना का पहला प्रयास है। 'हिंदी-भाषा और साहित्य' (डॉ० श्यामसुन्दर दास), 'हिन्दी-साहिय का आलोचनात्मक इतिहास' (डॉ० रामकुमार वर्मा) में सूर के काव्य और जीवन पर तथ्यपूर्ण विचार उपलब्ध हैं। डॉ० जनार्दन मिश्र पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने शोध-स्तर पर, वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के संदर्भ में सूरकाव्य का अध्ययन किया। 'सूर साहित्य', (डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी), 'भक्त शिरोमणि सूरदास' (नलिनी मोहन सान्याल), 'सूर का एक

अध्ययन' (शिखर चन्द्र जी जैन), 'सूर जीवनी और ग्रन्थ' (डॉ० प्रेमनारायण टंडन), सूर साहित्य की भूमिका' (डॉ० रामरतन भटनागर), 'सूर सौरभ,' 'भारतीय साधना' और 'सूर साहित्य' (डॉ० मुशीराम शर्मा), 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय' (डॉ दीनदयाल गुप्त), 'सूर निर्णय' और 'अष्टछाप-परिचय' (प्रभुदयाल मीतल), 'सूरदास' (व्रजेश्वर शर्मा), 'सूर और उनका साहित्य' (डॉ० हरवंश लाल शर्मा, 'महाकवि सूरदास' (पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी) 'सूर की काव्य-कला' (डॉ० गौतम शर्मा) ।

आचार्य शुक्ल की भ्रमर-गीत की भूमिका विशेष महत्व रखती है, क्योंकि उसने आलोचकों का ध्यान 'सूर-साहित्य' की ओर खींचा । आचार्य शुक्ल की आलोचना की अपनी सीमायें है । एक तो उनके आलोचक की चेतना तुलसी के प्रति विशेष आस्था रखती है, दूसरे भारतीय आदर्शो से वह प्रभावित है । भ्रमर-गीत की 'भूमिका' में समूचे सूर-काव्य की सरसरी आलोचना है । उनके अनुसार सूर भक्ति-वात्सल्य और शृंगार के कवि है, वात्सल्य और शृंगार, कृष्णोन्मुख होने से भक्ति की सीमा में हैं । इन दोनों भावों का सूर ने कोना-कोना झांक लिया है 'रचना और निरूपण' के विचार से ही सूर के पदो का विभाजन किया गया है, भाव-प्रक्रिया में विनय और लीला के पदों मे समानता है । सूर में वस्तु-संकोच है, पर उमंग और उद्रेक है । घटना और प्रयत्न का विस्तार नहीं है । सूर लोक-संघर्ष से दूर हैं । अनेकरूपता के वजाय, उनका काव्य बाल-क्रीड़ा और प्रेम के रग-रहस्य तक केन्द्रित है । बाल-लीलाओं के चित्रण मे लोक-सग्रह की सम्भावना भी सूर जैसे कवि को आकृष्ट नही कर सकी । वह सौदर्य तक सीमित है और उनका प्रेम पक्ष, "लोक से न्यारा एवं ऐकान्तिक है ।" साधना के सदर्भ मे गोपियाँ प्रेम की गम्भीरता से ज्ञान के गर्व को चूर-चूर करती है । सूर की बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि है कि वह प्रेम के त्याग और पवित्रता से ज्ञान के त्याग और पवित्रता को पराजित करते है । प्रेम-मार्ग की सुगमता प्रतिपादित करते है, प्रेम सगीतमय जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते है, और गोपियाँ प्रेम की सजीवता का उदाहरण बनती है । फिर भी, सूर की वियोग-वेदना एकपक्षीय है, सारी पहल इसमे गोपियां ही करती है । शुक्ल जी इस आरोप का खंडन करते है कि तुलसी चिकनी चुपडी बातें करते थे जब कि सूर स्पष्टवादी थे । तुलसी अपने आराध्य की समय-समय पर याद दिलाते है जब कि सूर तटस्थ रहते हैं । इसके विपरीत शुक्ल जी का विश्वास है कि सूर अपने भाव मे मग्न रहते हैं । वह चारों ओर की परिस्थिति का तनिक भी विचार नही करते, जबकि तुलसी का कवि उसका सूक्ष्म पर्यालोचक है । "भ्रमरगीत" वचन की भावप्रेरित वक्रता द्वारा प्रेमप्रसूत न जाने कितनी अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन परम मनोहर है । भ्रमर-गीत में कवि बताता है कि विरस उपदेश के योग से सांसारिक जीवन मे व्यवहार नही चल सकता, उसका कुछ भी असर नही पड़ता । कुब्जा को लेकर सूर ने असूया की विशद व्यञ्जना की है । डॉ० मुन्शीराम शर्मा 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' में भारतीय साधनाओं

के सन्दर्भ में सूर के साहित्य का अध्ययन करते है। इस अध्ययन में उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक है। दूसरे शब्दों में सूर-काव्य को वे आध्यात्मिक संदर्भ में देखते हैं और भारतीय साधना को वेदों से अनुप्राणित मानते है। उनके अनुसार, यह भारतीय साधना का उद्गम प्रत्यक्ष मे छिपी हुई परोक्ष शक्ति की खोज से प्रारम्भ होता है। वैदिक ऋषि का परोक्ष प्रेम भारतीय साधना की आध्यात्मिकता के लिए उत्तरदायी है। ये ऋषि आस्तिक आर्यों के (यद्यपि आर्य के नास्तिक होने का प्रश्न नहीं उठता) विचारों के अगुआ थे। वेदों की ब्रह्मवाणी में समस्त साधनों के सूत्र है। भारतीय साधना प्रवृत्ति-निवृत्ति में समन्वय करती है और द्वैत में से अद्वैत के साक्षात्कार पर जोर देती है।

डॉ० मुशीराम, शर्मा वेद में ज्ञान-कर्म के माध्यम से बताते है—अन्तर्यामी रूप से प्रभु निराकार है। पर अवतार और मूर्तियों में वह साकार है, यह कर्मयोगी जैन धर्म का आर्य धर्म पर चुपचाप पड़ा हुआ प्रभाव है, सांख्य का प्रकृति-पुरुष, जैन धर्म का जड़जीववाद ही है। यह धर्म, आत्मा से अलग ईश्वर की सत्ता नहीं मानता, जीव ही संसार से विरक्त, होकर ईश्वर बनता है। वैष्णव आचार्य ईश्वर को सृष्टि का रचयिता तो स्वीकार करते है, पर अवतार मानकर यह भी मान लेते हैं कि ईश्वर जीवात्मा से अतिरिक्त अलग सत्ता नहीं है। उदाहरण के लिये गीता कहती है—

> बहूनि में व्यतीतानि
> जन्मानि तव चार्जुन
> तान्यहं वेद सर्वाणि
> न त्वं वेत्थ परंतप ४।५

डॉ० शर्मा ने गीता के जिस श्लोक ४।५ का संदर्भ दिया है उसके वाद के श्लोक ४।६ में कृष्ण अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं—

> अजो ऽपिसन्न व्ययात्मा
> भूतानामीश्वरो ऽपि सन्
> प्रकृति स्वामधिष्ठाय
> संभवा म्यात्ममायया

मेरा जन्म प्राकृत मनुष्य सदृश नही है मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी तथा सब मूल प्राणियों का ईश्वर होने पर भी, अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूँ। उसके वाद यह प्रसिद्धतम श्लोक है—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ४।७

जैनधर्म के पूरे इतिहास में कोई भी तीर्थङ्कर यह दावा नहीं कर सकता। तीर्थङ्कर अर्थ है, वह जो संसार के अनादि प्रवाह से आत्म-साधना द्वारा कटकर ठहर जाता है, यह आत्मस्वरूपोपलब्धि ही उसके लिए मोक्ष है, वह तब कर्ता भी नहीं भोक्ता भी नही। तीर्थङ्कर और ईश्वर, दो भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रक्रियाएँ है, अतः गीता के उक्त श्लोक के आधार पर कृष्ण

को सामान्य जीवात्मा स्वीकार नहीं किया जा सकता और डॉ० शर्मा की सारी स्थापना ही आधारशून्य हो उठती है, सचमुच एक सहस्त्र से भी अधिक की आध्यात्मिक प्रगति को किसी खास, विचारधारा में खोजना, कोई अर्थ नही रखता। विशेपकर शोध के क्षेत्र में। डॉ० शर्मा इससे यह सिद्ध समझ लेते हैं कि कृष्ण जीवात्मा थे, परन्तु वह यह भूल जाते हैं कि कृष्ण, अर्जुन और स्वयं में भेद बता देते है, एक अपने सैकड़ों जन्मांतरों को जानता है दूसरा (अर्जुन) नहीं जानता। डॉ० शर्मा का यह कथन भी ठीक नही माना जा सकता, "कृष्ण ने उन्नत विकसित और निर्लिप्त होकर जैनों के तीर्थङ्करों की भाँति ईश्वरत्व प्राप्त किया। डॉ० शर्मा के अनुसार अवतारों में कला और अंशों की गणना भी, जैन-प्रभाव को सूचित करते हैं, क्योंकि उसके अनुसार एक साथ तीन-तीन तक तीर्थङ्कर हो सकते हैं। द्वापर के अन्त में श्रीकृष्ण, बलराम और व्यास—ये तीन अवतार हुए। फिर भी ये आचार्य वेदों के अनुयायी थे। डॉ० शर्मा के उक्त विचारों में, उनकी उदारता के बावजूद अन्तर्विरोध है। जैन-दर्शन एक साथ तीन तीर्थङ्करों का होना नहीं मानता। तीर्थङ्कर और ईश्वरत्व एक बात नहीं, मूर्ति-पूजा आर्यो के पहले भी थी जो मोहन जोदड़ो के टीलों पर अंकित है। नग्नता, ग्रीक प्रभाव के बहुत पहले भारत में थी। डा० शर्मा की सबसे बड़ी बात यह है कि उनका अध्ययन एक पक्षीय है। वे उन आर्येतर प्रभावों की जानबूझकर उपेक्षा करते हैं जो आर्यो के आने के पहले इस देश में थे। प्रवृत्ति-निर्वृत्ति एक दूसरे के पूरक है, सभी भारतीय दर्शन यह स्वीकर करते हैं यद्यपि इसका अतिक्रमण सभी दर्शनों में होता रहा है। जैन-दर्शन के अनुसार सभी सृष्टि जड़-चेतन के मिलन की एक अनादिकालीन प्रक्रिया है। वास्तव में भारतीय साधना का विकास आर्य आर्येतर प्रभावों के संघर्ष और समन्वय में खोजना चाहिए। डॉ० शर्मा का यह कथन महत्वपूर्ण है कि 'अवतारवाद' की कल्पना भारतीय आर्यो में ही संभव हो सकी। 'पुराण' अवतारवाद को पूर्णता पर पहुँचाते है। जैन-बौद्ध मनुप्य की मुक्ति या 'सम्पूर्ण बोध' को स्वीकार करते है, ठीक इसकी प्रतिक्रिया है 'अवतारवाद' जो ईश्वर का मानवीकरण है, मनुप्य की परिस्थितियों में।

इस तारतम्य में यह भी उल्लेखनीय है कि भक्ति और उपासना एक नहीं है, उपासना ध्यान है जबकि भक्ति भावना! डॉ० शर्मा ने यह नहीं बताया कि जब विष्णु वैदिक देवता हैं, तो दक्षिण में ही वैष्णव आचार्यो को क्यों पाँचवें उत्थान की भक्ति का स्वरूप गढ़ना पड़ा या उसमें शैव भक्ति और शैव सामाजिक उदारता का कितना अंशदान है? वे 'आड वार' की चर्चा करते हैं, परन्तु 'मायंवार' को छोड़ देते हैं, 'शिव' जो अवैदिक देवता हैं और जो बृहत्त्रयी में सम्मिलित हैं, और अपने, समग्र रूप में जो भारतीय आध्यात्मिक एकता का प्रतीक हैं, उनका विलक्षण व्यक्तित्व इसका जीता-जागता साक्ष्य है। योग और भोग प्रवृत्ति और निर्वृत्ति का अद्भुत संगम उनमें है, तभी कालिदास को कहना पड़ा था—

न संति याथार्थ्यविदः पिनाकिनः

सूर-काव्य के संदर्भ में डा० मुंशीराम का मत है कि दीक्षित होने के पहले सूर

शैव थे। इस तथ्य को वह सूर काव्य की विभाजन रेखा मानते है। विनय के पद जिनमें दीक्षा के पूर्व जीवन की प्रतिक्रिया है, लीला के पद जिनमें उत्तर दीक्षा के जीवन की प्रतिक्रिया है। उनकी काव्यात्मक उपलब्धि यह है कि 'वात्सल्य' को उन्होंने रस की प्रतिष्ठा दी और वह भक्ति का समन्वय स्वीकारते हैं, तप स्वाध्याय और भक्ति का समन्वय कर्मयोग है—इसी में से बुद्धयुग और उसके बाद की साधनाओं का विकास हुआ। वैदिक ऋषि प्रभु की स्तुति, उसकी अनन्त सामर्थ्य के कारण नाना नामों में करते थे, इसी से भक्ति का विकास हुआ। यह तथ्य संत-परम्परा में ही दृष्टव्य नहीं है, वरन् वैष्णव आचार्यों के समूचे भक्ति-विवेचन की पृष्ठभूमि हिन्दी कवियों को प्राप्त होती है। डा० शर्मा के अनुसार—'वैदिक ऋषियों के 'भाव उद्गार' अपने अजस्त्र प्रवाह को पार कर हिन्दी कवियों को उपलब्ध हुए हैं।'

भक्ति का अत्यन्त स्वाभाविक और सर्वग्राह्य विकास वैदिक युग में हुआ, यह उसका पहला उत्थान था। ब्राह्मण काल की याज्ञिक क्रियाओं और उपनिषदों के निवृत्तिवाद और ज्ञानवाद के मरु में यह धारा दबने लगती है, पर भगवद्गीता में फिर वह अपने दूसरे उत्थान में प्रबल हो उठती है। गीता दो काम करती है, एक तो वैदिक हिंसक, यज्ञ परक कर्म की जगह अनासक्ति कर्मयोग पर जोर देती है और दूसरे निवृत्ति पारायण ज्ञानवाद की जगह, प्रवृत्तिमूलक भक्तिवाद पर। पर वैदिक कर्मकाण्ड की बढ़ती हुई जटिलता ने इसे भी दबा लिया। इस कर्मकांड के विरोध में जैन बौद्धों ने अहिंसा, वैराग्य और सदाचार के सिद्धांत रखे परन्तु शीघ्र ही पौराणिक, कल्पनाओं के नेपथ्य से भक्ति का तीसरा 'उत्थान भारत के सांस्कृतिक रंगमंच पर अभिनय करने लगता है। रामायण और महाभारत इसी के साक्ष्य हैं 'अवतारवाद' की कल्पना इस उत्थान की मुख्यतम विशेषता थी। दूसरे इसने अहिंसा और सदाचार को भी भक्ति के भीतर समेट लिया। भक्ति का चौथा उत्थान हम देखते है' गुप्त–साम्राज्य में, श्री मद्भागवत इसका महत्वपूर्ण ग्रंथ है, पर इसमें प्रवृत्ति के बजाय निवृत्ति पर जोर दिया गया। अवतारवाद, मूर्ति पूजा और निवृत्ति की कल्पना के मूल में डा० शर्मा जैन प्रभाव को मानते है। जो भी हो, एक बार फिर निवृत्ति के कारण आशामय पक्ष से उदासीन जीवन इस उत्थान में सक्रिय हो उठा। पाँचवें उत्थान की पृष्ठभूमि के रूप में डा० शर्मा द्रविड़ भक्ति-आंदोलन की चर्चा करते है और रामानुजाचार्य को उसका संस्थापक स्वीकार करते है। सूर ने कुल मिलाकर शृ गार के सुदरतम चित्र दिए, व्यंग्यपूर्ण और चित्रात्मक भाषा दी, उपालम्भ इतना अनोखा कि विश्वकाव्य में विरल। भ्रमरगीत, डा० शर्मा के अनुसार ज्ञान के ऊपर भक्ति की, योग के ऊपर प्रेम की और निर्गुण के ऊपर सगुण की जीत का काव्य है। यौवनसुलभ वासनाओं का परिष्कार और एक काल्पनिक सौंदर्य धारा में उसका निमज्जन, विद्यापति के पार्थिव कृष्ण का अपार्थिवीकरण है। डा० शर्मा सूर के विरह में निराशा देखते है और विद्यापति के विरह में आशा। (यद्यपि सूर की गोपियों के प्रेम का मूल आशावाद है और विद्यापति कहते हैं, 'माधव मम परिणाम

निरासा)' उनके अनुसार अलौकिक और अपार्थिव के प्रति अपनी प्रेमाभिलाषाओं की व्यञ्जना के कारण मानव बुद्धि उलझन में पड़ जाती है और अभिव्यक्ति रहस्यमयी हो उठी है। अलौकिकता के प्रति उनके संकेत अनुभूति में बाधक है फिर भी सौंदर्य के उन्होंने जो अनाघ्रात चित्र दिये हैं वे अद्वितीय हैं और जो अलौकिक सौंदर्य को मानवीय वास्तविकता पर उतारे गए है। कलात्मक उपलब्धियों के संदर्भ में डा० शर्मा व्यञ्जना, दृष्टकूट, कल्पना-प्रवणता भावात्मकता, उक्ति वैचित्र्य, वर्णन की सहजता, चित्रात्मकता आदि विशेषताओं का उल्लेख करते हैं और यहीं उनके शोध का समापन है।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'सूर-साहित्य' पुस्तक 'सूर-साहित्य' विशेष रूप से मध्ययुगीन भक्ति-साधना की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, इतिहास के संदर्भ में विवेचित करती है। विनोद में वह इसे अपनी बालकृति मानते हैं, परन्तु इसमें काफी प्रौढ़ सामग्री है। भक्ति-साधना के विकास का सूत्र, वह ई० पू० ५-४ सौ वर्ष में प्रचलित वासुदेव की पूजा से जोड़ते हैं (पाणिनी सूत्र (४।१।७८) फिर वासुदेव और नारायण एक बनते हैं। ब्राह्मणकाल में 'नारायण' एक 'परम द्वैवत' के रूप में स्वीकृत हो चुकते हैं। ऋग्वेद नारायण की प्रधानता स्वीकारता है, महाभारत और पुराण नारायण और विष्णु की एकता मानते है। वैसे विष्णु एक वैदिक देवता हैं, बाद में उसका स्थान सर्वोपरि हो उठा। डॉ० भांडारकर के अनुसार नारायण के श्वेत द्वीप का वही महत्व है जो विष्णु के लिये वैकुंठ, शिव के लिये कैलाश और कृष्ण के लिये गोलोकवास का ! परम्परा के अनुसार नारद इसी श्वेत द्वीप से भक्ति लाए। कुछ यूरोपीय विद्वान इस द्वीप की पहचान अलेक्जेंड्रिया, वैक्ट्रिया या इंसिकुल हृद से करते है, जो गलत है। महाभारत युग में सात्वों के वासुदेव और नारायण एक ही देवता हो गए। गोपाल कृष्ण का नाम महाभारत मे नहीं है, कंस वध के संदर्भ में भी नहीं है। गोपाल कृष्ण की कथाएँ हरिवंश पुराण में मिलती हैं; भागवत पुराण में इनका विशेष महत्व है। यहाँ आकर कंसारि कृष्ण और गोपाल में स्वरूपता आ गई। महाभारत के सभा पर्व में, शिशुपालवध की कुछ उक्तियों में गोपाल वाली कथा का उल्लेख है, परन्तु कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। ईसवी सन् के आसपास गोपाल कृष्ण-कथा प्रचलित नहीं थी। अनुमान है कि कृष्ण घुमक्कड़ आभीर जाति के देवता थे। इनका राज्य पश्चिमी उत्तर और दक्षिण में व्याप्त था। आधुनिक जाट गूजर इन्हीं आभीरों की ही संतान हैं। वे इसे ईसाई धर्म की देन मानते हैं। डॉ० भांडारकर के अनुसार, आभारी सीरिया से आये थे। ग्रियर्सन, भांडारकर और केनेड़ी की मान्यता है कि वाल-कृष्ण 'क्राइस्ट' का रूपान्तर है, डॉ० द्विवेदी ने इन दोनों बातों का खंडन किया है। उनका कहना है कि कृष्ण का वर्तमान रूप; वैदिक-अवैदिक, आर्य-अनार्य कथाओं के मिश्रण से ही संभव हो सका।

केनेड़ी ने कृष्ण के तीन भेद किये है—

(१) द्वारका का राजा कृष्ण जो अपने धूर्त कृत्यों के लिए महाभारत में बहुत

विख्यात है।

(२) निचली सिंधु उपत्यका का अनार्य वीर, जो आधा देवता है इसने अनार्य विवाह किए हैं।

(३) मथुरा का बाल कृष्ण।

जैकोबी के अनुसार पाणिनी से पहले वासुदेव देवता रूप में पूजे जाने लगे थे। छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस के शिष्य-देवकीपुत्र की चर्चा पाई जाती है। इस ऋषि कृष्ण और देव वासुदेव के योग से, एक कृष्ण ब्राह्मण युग में अस्तित्व में आ चुके थे इसी में बाद में मथुरा के कृष्ण आ मिले (१) मथुरा के बाल गोपाल (२) वृष्णियों के नायक राजपुत्र (३) इसमें वैदिक देवता विष्णु और नारायण भी मिल चुके थे। इसका कुछ अंश ईसवी सन् पूर्व का है जिसमें कृष्ण परम दैवत और भक्ति के उपदेशक के रूप में अंकित है। पर इसमें आभीरों का बाल देवता नहीं है, फिर भी बालकृष्ण की कथाएँ ईसवी सन् के आसपास प्रचलित हो चुकी थीं और लीलाओं के साथ राधा भी प्रसिद्ध हो चुकी थी।

हरिवंश में श्री कृष्ण और गोपियों की लीलाओं का उल्लेख है। 'गाथा सप्त-शती' ईसा पूर्व की रचना में राधा का उल्लेख है। पंचतंत्र में भी राधा का नाम है। भास (कण्व वंशी राजा नारायण का सभाकवि ५३-७१ ई० पू०) के नाटकों में श्री कृष्ण परम दैवत के रूप मे स्वीकृत हैं इनमें राधा नहीं है चौथी सदी के आस-पास कृष्ण केलि की कथा प्रारम्भ हो चुकी थी। भागवत के रास रस का संबंध डॉ० भांडा-रकर आभीर जाति से जोड़ते है, क्योंकि विलासी आर्यों के आभीर स्त्रियों के साथ स्वतंत्र संबंध के कारण यह संभव भी था। डॉ० द्विवेदी इसे ठीक नही समझते यद्यपि यह मानते हैं कि राधा आभीरों की प्रेम देवी रही होगी जिसका बालकृष्ण से संबंध रहा होगा, बालकृष्ण की प्रधानता होने पर सारी बातें ले ली गई अथवा वह इसी देश की आर्य पूर्वजाति की प्रेम देवी रही होगी जिसे बाद में महत्व प्राप्त हो गया।

चौदहवीं सदी में जब भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप में विकसित हुआ तब राधाकृष्ण इतिहास के व्यक्ति नही थे, वे सम्पूर्ण भावनाजगत के जीव हो गए थे। राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के सौंदर्य में डा० द्विवेदी इसमें तंत्रवाद और सहजवाद का प्रभाव स्वीकार करते है, तंत्र के अनुसार शिव या आत्मा, शक्ति या रस ग्रहण काला-तीता बनता है। अनंत का रूप देशकाल से सीमित है और सीमाहीन और ससीम के इसी खेल का नाम जगत है। ससीम के रस द्वारा ही अपरिसीम के रस को हृदयगम करते हैं। स्त्रीरूप से हम महाशक्ति के एक रस का साक्षात करते हैं, माता रूप से दूसरे का, भगिनी रूप से तीसरे का। इस तत्ववाद का प्रवेश वैष्णव संप्रदाय में भी हुआ, इसके पूर्व शून्यवाद का प्रचार था। सहज मत के अनुसार मनुष्य अपने सहज स्वाभाविक रास्ते से भगवान को प्राप्त कर सकता है। युगल मूर्ति को पूर्णता पर पहुँ-चाने में इस मत वाद का भी बड़ा हाथ है। डॉ० द्विवेदी का कथन है कि तंत्रवाद के ससीम रस से सीमाहीन की उपलब्धि के सिद्धांत ने तात्कालिक जनसमुदाय को सखा-रूप में, स्वामी रूप से भी श्रीकृष्ण की उपासना के प्रति अग्रसर कर दिया था।

परकीया-प्रेम के संबंध में डा० द्विवेदी का मत है कि पुराने जमाने में एक खास संप्रदाय का धर्म-सा था जिसके बीज ऋग्वेद में हैं। बुद्धयुग में इस संप्रदाय की निदा मिलतीहै। ईसवी सन् में बौद्ध मत के भ्रष्ट होने पर भी तंत्रवाद की उत्पत्ति उससे नहीं मानी जा सकती। तंत्रवाद पुराना है। अपरा शक्ति की उपासना स्त्रीरूप में है, पुरुष रूप में नहीं। भागवत इस मत से प्रभावित है और उसमें बाल-लीलाओं का प्रवेश है राधा का महत्व बढ़ने का यही कारण है। इस प्रकार वैष्णवों ने राधा-कृष्ण के रूप में शक्ति की उपासना स्वीकार करके उसे एक शुद्ध मर्यादा के भीतर रख दिया। तंत्र की परकीया एक यांत्रिक-साधना थी पर वैष्णवों की परकीया भाव से प्रेम की साधना थी। बंगाल के भक्तिवाद पर वह वल्लभाचार्य के प्रभाव को स्वीकार करते है, ब्रज भक्ति के इस रूप को उपलब्ध करना कुछ सहज बात नहीं है, नाना सीढ़ियों को पार करता हुआ भक्त अंतिम सीढ़ी पर आता है। तटस्थ साधक और सिद्ध, उसकी ये ३ स्थितियाँ होती है। भक्ति के दो रूप हैं—कामरूपा और संबन्ध रूपा। विषय, संभोग, तृष्णा, काम हैं, पर भगवान को विषय रूप में स्वीकार कर लेने पर यही तृष्णा प्रेम है। इस प्रकार काम और प्रेम में स्वरूपगत भेद नहीं है, क्योंकि उनमें विषयान्तर का अभाव है। गोपियों की भक्ति, कामरूपा थी। रागानुगा भक्ति में करुणा ही एकमात्र कारण है। प्रेम-भक्ति पुष्टिकारिणी है, इसलिये पुष्टि संप्रदाय बनाभाव प्रेमाभक्ति दो अवस्थाओं की है, प्रेम और प्रेम सूर्य है तो भाव किरण। स्त्री पुरुष के प्रति रति जड़ विषया है, श्रीकृष्ण के प्रति चिद्विषया। लोक में रस की स्थिति है मधुर वात्सल्य, सख्य, दास्य और शांत। परन्तु व्रजेश्वर के प्रेम में उल्टा है जो वस्तुत: भागवत रस है।

डा० द्विवेदी सूर के समय को पराजय का समय नहीं मानते, क्योंकि भारत तब भी निस्तेज नहीं हुआ था। भारत की अपनी साधना है वह अन्तर की चीज है। सूर के समय एक विकट समस्या थी। यह युग शास्त्रों और भाष्यों का टीका-युग था, हिन्दू जाति एक क्षीण शक्ति के सहारे जीवित थी। प्रश्न यह है कि नवागत मुसलमानी आक्रमण से हमने अपनी जातीय रक्षा किस प्रकार की ? बौद्ध धर्म लुप्त होकर पुनरुज्जीवित हिन्दू धर्म में घुल-मिल चुका था। इसके मुख्य उपादान थे-दुखवाद वैराग्य और मूर्तिपूजा। यज्ञ की जगह तीर्थों और मंदिरों की आडम्बरपूर्ण पूजा थी, धर्म में प्रदर्शन था और विरक्त साधुओं की फौज खड़ी थी। नाथपंथ महायान संप्रदाय के उत्तराधिकारी के रूप में था, मुसलमानों की दो धाराएँ थीं (बा शरा) शास्त्रीय और (बे शरा) अशास्त्रीय। प्राचीन लुप्त निर्गुणधारा इस अशास्त्रीय यानी सूफी धारा का संस्पर्श पाकर वेग से प्रवाहित हुई और दोनों ने मिलकर वैराग्यवाद से जमकर लोहा लिया। सूर के युग की समस्या यह थी कि घर में वैराग्यप्रधान साधुओं का विद्रोह था, बाहर शक्तिशाली समाज था, वर्ण व्यवस्था इससे हिल उठी थी, तीसरी शक्ति निर्गुण साधकों की थी जो प्रतिभा और साधना से ब्राह्मण के गुरु बन रहे थे इसी समय दक्षिण से भक्ति की घाटी आई जिसका साधना-बिन्दु प्रेम था। शास्त्रीय सामञ्जस्य के साथ यही धारासगुण धारा के नाम वेगशाली बनी। सूर

जैसे भक्त कवियों में विरोध की ध्वनि नहीं है, वे बुराई को उपेक्षा से देखते हैं। सूरसागर प्रेम का काव्य है, वे हठयोग का खंडन करते हैं, निर्गुण साधना का भी। ज्ञानप्रधान साधना के वे विरोधी थे। सूर के अनुसार केवल प्रेम चाहिए, प्रेम ही से वे मिलते हैं। भगवान की दृष्टि में जाति-पाँति, कुल-शील आदि कोई भी चीज नहीं है। योगी और अयोगी उनकी दृष्टि में समान है। इसमें संदेह नहीं कि ईसाई धर्म की निम्न बातें इनमें मिलती है।

१. आत्मसमर्पण (Self Surrender)
२. अपने प्रभु के जीवन की अनुभूति (The feeling of lord's life)
३. तीन दशाएँ–पवित्रीकरण उज्ज्वलीकरण और एकात्मभाव
४. प्रतीक–भावना
५. अन्तं–दृष्टि

इसके साथ (Conversion) चैतन्य का उदय और (Pergative) विरेचन तथा (Vision) अन्तर्दृष्टि इन्हीं समानताओं के आधार पर ग्रियर्सन ने तुलसीदास को अपनी भावनाओ मे बहुत बड़ा ईसाई बताया है, परन्तु दोनों में अन्तर है–एक तो ईसाई धर्म हिब्रू सन्कार को नही छोड़ सका, दूसरे उसमे 'क्रूश' (दुःख) का महत्व है।

डा० द्विवेदी सोचते है कि सूर और कबीर के आधार पर उस युग का चित्र खींचा जा सकता है। यह है, "**चौपरि जगत मड़े जुग बीते।**" मनुष्य की विफलता का कारण भजन का अभाव बताया है। सूर ने युग के "**आलिंगन चुंबन परिरंभण नख छत परस्पर हाँसी**" को वदल दिया। सूर की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने मानव की वासनामूलक प्रवृत्ति को ईश्वर की ओर उन्मुख कर दिया, उन्होंने अपना कोई सम्प्रदाय खड़ा नही किया। रवीन्द्र के गीत मे डॉ० द्विवेदी कहते हैं–

सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि
कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेमगान
विरह तापित हेरि काहार नायान

कहा गया है कि सूर प्रेम के स्वरूप के अपूर्व पारखी थे। मैं कहता हूँ कि प्रेमिका के सौंदर्य का तटस्थ भाव से चित्रण करने में सूरदास की भी कुछेक कवियों में गणना की जा सकती है।

डा० द्विवेदी का विश्वास है कि खोजने पर गोपियों में "प्रकृति वैचित्र्य" मिल सकता है, यशोदा और राधा सूर के बेजोड़ चित्र हैं। वैष्णव कवि उपलब्धि, सूर के माध्यम से यह है। श्रीकृष्ण परिपूर्ण है, अनन्त है, उदासीन हैं। यशोदा और राधिका इस अनन्त वियोग रूपी दीर्घवृत्त के जो नाभिकेन्द्र हैं,वे सान्त हैं, अपूर्व और आसक्त है। वैष्णव मर्मी (Mystic) अत्यन्त सहज भाव से अपरिपूर्णता की इस अनुभूति को प्रेम से भरता है, यही वैष्णव प्रेम का महत्व है। वे लौकिक प्रेम को समर्पित कर देते हैं देवता के लिए। इस प्रकार वैष्णव धर्म एक विराट आन्दोलन था। साहित्य

के साथ धर्म की इतनी एकात्मकता संसार के इतिहास में विरल है। सूरसागर में गोपियों का इतना विस्तृत वर्णन है कि उसे स्त्री-चरित्र-काव्य कहें तो अनुचित न होगा। सूर मातृ-हृदय का चित्र खींचने में सानी नही रखते। यशोदा कृष्ण की उपस्थिति में परिपूर्ण प्रेममयी हैं, वे उन माताओं मे नहीं है जो संतान की मंगल आशा से अश्रु-पूर्ण आंखों से आकाश की ओर ताका करती है और सूरदास की राधा चंडीदास की राधा की भाँति मिलन मे वियोग की कल्पना से कहीं भी सिहर नहीं उठतीं, राधा और यशोदा दोनों मिलन के समय सोलह आना प्रेयसी हैं और वियोग के समय दोनों सोलह आना वियोगिनी।

छबीले मुरली नैकु बजाउ ?

समस्त सूरसागर में सूरदास की व्याकुल आतमा नाना मिसों से अन्तर चीत्कार कर उठती हैं। मुरली के प्रति गोपियों की ईर्ष्या वैष्णव साहित्य की एक अपरिचित घटना है, परन्तु सूरदास ने इस ईर्ष्या के पीछे अपना व्याकुल व्यक्तित्व इस प्रकार बैठा दिया है कि वार—बार निकल पड़ता है—

बांसुरी विधिहू से परीबोन ?

डाँ व्रजेश्वर वर्मा की पुस्तक 'सूर-मीमांसा' कवि के जीवन और काव्य का शोध पूर्ण अध्ययन करती है। दूसरी वातों के अलावा सूरसागर का विभाजन डा० वर्मा ने शिल्पगत आधार पर दो भागों में किया है—स्फुट पद और खंड कथानक। खंडकथानक से उनका अभिप्राय संभवत: लीलाकाव्य से है और इसमें उन्होने सभी लीलाओं को ले लिया है जिसमें भ्रमर-गीत भी है यद्यपि भ्रमर-गीत लीला नही है। डा० वर्मा ने सूरसागर का एक क्रमवद्ध और तथ्यात्मक अध्ययन किया है। वह 'सारावली' और 'साहित्य लहरी' को सूर की रचना नहीं मानते। उनके अनुसार लीलाएँ योग माया का विस्तार है जिनकी माया में पड़कर कृष्ग का ब्रह्मत्व विसर जाता है और वे साधारण व्यक्ति जान पड़ते हैं। कृष्ण-लीलाओ का उद्देश्य इसी तथ्य की याद दिलाते रहना है, यह माया के विरुद्ध कृष्ण-भक्ति की सुरक्षा का एक महत्वपूर्ण साधन है। लीलाओं के चित्रण में कृष्ण की उक्तियों में अलौकिकता का आभास उनकी आध्या-त्मिकता वताने के लिए है। दसवें स्कन्ध के पूर्वार्ध मे माया भक्ति का महत्वपूर्ण साधन है। इसी के वूते पर गोपियाँ प्रेम और भावुकता से ओत-प्रोत हैं, कृष्ण से अनुराग करती हैं। डा० वर्मा व्रज की क्रीड़ाएँ जिन्हें धार्मिक परिभाषा में लीला कहते है, ब्रह्म के परमानन्द रूप की व्यञ्जक और प्रकाशक हैं। राधा-कृष्ण संसार में रहकर भी उसके प्रभाव से दूर नहीं रहते, वे उस प्रभाव का आदर करते है और अपने वास्तविक रूप को गुप्त रखना उचित समझते है। इसीलिए विरहिणी राधा कहती है— "मैं इस माया में लगी हूँ तुम इसे क्यों नहीं तोड़ते हो, मेरा जी तुम्हारे चरणों में लगा है, तुम्हारे मुख मोड़ने पर मुझे कैसे धीरज रहेगा।" गीत पदों में रचना करते हुए भी 'कृष्ण चरित' को एकात्मक रूप प्रदान करते है जिसमें कथा प्रबंध की विभिन्न कड़ियाँ भाव-विकास के आधार पर संवद्ध हैं। उनके स्फुट लगने वाले पदों और पद समूहों का सम्पूर्ण कृष्ण-कथा में एक अपना निश्चित स्थान है। उनके खंड कथानक अपना

अलग व्यक्तित्व रखते हुए भी परस्पर संयुक्त होकर पूर्व कथा-काव्य का निर्माण करते है अतः सूरदास का कृष्ण-चरित स्फुट सामग्री का संकलन नहीं है वरन् विविध घटना प्रसंग और भावो के विकास की दृष्टि से एक सम्बद्ध चरित-काव्य है जिसमें प्रधान कथा को पुष्ट विकसित और अग्रसर करने वाली विशृंखलता मालूम पड़ने का मुख्य कारण एक तो गीतपदो की शैली है, दूसरे विभिन्न प्रकार के पदों और कथा-प्रसंगों की स्वतन्त्र प्रकृति है। एक तीसरा और महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि उनकी रचना में परिवर्तन-परिवर्धन होता रहा। कवि कृष्ण-प्रेम की विजय दिखाकर चरित-काव्य को दुखान्त होने से बचा लेता है। कृष्ण ब्रज को भूलने की बात कहकर और प्रेम की पूर्णता वियोग मे ही बनाकर भ्रमर गीत मे प्रेम की पूर्णता सिद्ध करता है।

महाकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा के अनुकूल यदि हम बाह्य लक्षणों का विचार न करे तो सूरदास के कृष्ण-चरित को महाकाव्य कह सकते हैं, क्योंकि इसमें चरित काव्य के सब लक्षण इसे महाकाव्य की कोटि में पहुँचाते हैं। विशेष रूप से भ्रमर-गीत की रचना मे विस्तार और तन्मयता है। कवित्व भक्ति भाव और वैयक्तिकता के विचार से भ्रमरगीत सूर की सर्वश्रेष्ठ रचना है। भ्रमरगीत मधुर प्रेम का अथाह समुद्र है जिसमें लघु लहरें उत्ताल तरगे झञ्झावात से विलोड़ित विप्लव धैर्य तोड़ने वाले ज्वार और विह्वल करने वाली बडवाग्नि तो है पर सरिता में जो प्रवाह गति और क्षिप्रता होती है, वह नहीं है। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी का 'महा कवि सूरदास' भी कवि के काव्य-जीवन और भक्ति के अंतरग विवेचन के लिए समर्पित है। वाजपेयी जी के अनुसार भक्ति का प्रथम उद्गम प्रकृति के विभिन्न तत्वों के प्रति वैदिक युग की प्रतीक पूजा मे देखा जा सकता है। वैदिक मंत्रों में उल्लास है। इन्द्र और विष्णु के तीन सम्बन्ध है–

(१) वे एक दूसरे के सहायक है।

(२) इन्द्र से विष्णु श्रेष्ठ है।

(३) विष्णु वामन रूप में इन्द्र की सहायता करते है। पुराणों में विष्णु को उपेन्द्र माना गया है। वैदिक ऋचाओ मे विष्णु की प्रार्थना है 'महस्ते विष्णोः सुमति भजामहे' (विष्णु आप महान है हम आपकी सुमति का भजन करते है।) आचार्य वाजपेयी वेद मंत्रों मे नवधा भक्ति का उल्लेख स्वीकारते है और पुरुष सूक्त में ब्रह्म की निराकार भक्ति भी है पर इसकी शास्त्रीय व्याख्या नही हुई और न भक्ति मार्ग की स्वतन्त्र स्थापना। उपनिषद् काल मे ब्रह्म के विविध रूपों की छान-बीन हुई, इसे ज्ञान युग स्वीकार किया गया। अब दो मार्ग थे– ज्ञानपक्ष और दूसरा हृदय समन्वित ज्ञान पक्ष। तैत्तरेय उपनिषद् विज्ञान-आत्मा से ज्ञात आत्मा को अधिक महत्व देती है। भक्ति मार्ग ज्ञान का उभयात्मक स्वरूप लेकर चला। छांदोग्य उपनिषद् बताती है, पर ब्रह्म का ज्ञान होने के लिए ब्रह्मचिंतन आवश्यक है और इस हेतु पर ब्रह्म का सगुण प्रतीक आंखों के सामने रखना चाहिए। इस प्रकार उपासना-मार्ग मे सगुण प्रतीक के स्थान पर क्रमशः परमेश्वर का व्यक्त मानव रूपधारी प्रतीक-ग्रहण ही भक्ति मार्ग का आरम्भ

है। ब्राह्मणकाल में विष्णु आराध्य देव स्वीकार हैं, वैष्णव यज्ञों में हिंसा वर्जित थी। रामायणकाल में वैष्णव प्रधान भक्ति तत्वों का विकास यथेष्ठ मात्रा में हुआ। अवतार की प्रतिष्ठा से भक्ति की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है और भक्ति-मुक्ति का स्वतंत्र मार्ग बन गई। महाभारत और गीता भक्ति का प्रचार करते हैं। महाभारत में कृष्ण प्रमुख दैवत हैं, महाभारत में सात्वत और नारायण शाखाएँ थीं। वासुदेव वृष्णि वंश के थे और उनका उपासक संप्रदाय पूर्व पाणिनी युग का है। ऐकान्तिक धर्म, वस्तुतः गीता का धर्म है, आचार्य वाजपेयी वेदव्यास द्वारा निरूपित भक्ति धर्म में जैन बौद्ध प्रभावों की प्रतिक्रिया मानते हैं। सास्वत और नारायणी मत एक हो गए। कृष्णायन गोत्रीय होने से वासुदेव को कृष्ण कहा गया है। गीता में भक्ति की प्रक्रिया का विचार है, उसमें समर्पण है और साध्य साधन का विचार भी। भक्ति दो प्रकार की है : (१) पराभक्ति प्रेम स्वरूपा (२) साधन स्वरूपा भक्ति। सूत्रयुग भक्ति का समर्थक है। पुराण युग का श्रीमद्भागवत भक्ति का प्रतिष्ठापक ग्रंथ है। आचार्य वाजपेयी भी स्वीकार करते हैं कि भक्ति के अबाध विकास के लिए शंकर के अद्वैत का विरोध करना पड़ा। शंकराचार्य भक्ति के कई सिद्धान्तों का समर्थन करते रहे। विदेशी विद्वानों के इस कथन से वाजपेयी जी सहमत नहीं कि धार्मिक और आध्यात्मिक कृतियाँ काव्य द्वारा नहीं हो सकतीं। काव्य का क्षेत्र भावों का क्षेत्र है और फिर यह अपना जातीय स्वभाव होता है।

कला के संदर्भ में आ० वाजपेयी का कहना है कि सूर की एक लीला अनेक छोटे-छोटे भाव चित्र खींच लाई है, शब्द-साधना के साथ स्वर की भी साधना है। भक्ति-विह्वल कवि के लिए यह संभव नहीं था कि वह बाललीला से लेकर वियोग वर्णन तक के कृष्ण चरित का चित्रण कर देता। सूर ने रस-पद्धति को तोड़ा है। उन्होंने साहित्य शास्त्र की आंखें खोल दीं और ससीम के स्थान पर निःसीम की झलक दिखा दी। सूर विनय पदों की भक्तिमयी आधारभूमि पर ही कृष्ण की शृंगारमयी मूर्ति प्रतिष्ठित करते हैं। चित्रकला के रंग हिन्दी में सूर द्वारा आविष्कृत हैं। उन्होंने पदों में व्या-ख्यान-शैली का निर्वाह किया। माइकेल इंजिलो की भाँति कला में धर्म की शक्ति भर दी। इस प्रकार सूर के स्वर ने सौंदर्य की मूर्ति को श्रद्धा का विषय बना दिया।

भ्रमरगीत में सूर का उद्देश्य निर्गुण का खंडन नहीं है, वह तो गोपियों के साथ कृष्ण से अपना एकात्म्य स्थापित कर रहे हैं। वह प्रणय धन्य है जो निराश, पीड़ित और लांछित प्रेमिका का अपने प्रिय के प्रति होता है। वह निष्ठा धन्य है जो एक की होकर दूसरे का मुख नहीं देखती; वह मृत्यु वंद्य है जो मृत्यु का सामना करके अमर बनती है। भ्रमरगीत में संयोग की मुरली बजाने के पश्चात् अब वे विरह आंसुओं से अभिषेक करने चली हैं। सूर का काव्य एक धार्मिक काव्य है, श्रीकृष्ण के चरित्र का उल्लेख करना उनका प्रमुख उद्देश्य है इसीलिए तीन चौथाई सूरसागर कृष्ण की मानवी लीलाओं के लिए समर्पित है। कृष्ण के मथुरा से लौटने पर विशेष चमत्कार नहीं था, कवि जीवन के नए पक्ष पर प्रकाश डालना चाहता है। भक्तों की भावना इतनी क्षुद्र नहीं

है कि वह संयोग में ही तृप्त हो। सूर ने भ्रमर-गीत प्रसंग को एक अत्यन्त अनूठे विरह् काव्य का रूप दिया है जिसमे आदि से अन्त तक व्रज की दुख-कथा कही गई है। इस कथा के दो भाग है—(१) उद्धव के पूर्व की वियोग कथा (२) उद्धव और गोपियों का वार्तालाप। इनमे उनकी अनन्य तन्मयता सर्वत्र ध्वनित है। भ्रमरगीत का लक्ष्य पुराने पाखड का खडन करना नही है। सूर की कलात्मक उपलब्धि यह है कि उनके गीत और कथा मे हम यह नही समझ पाते कि कथानक के भीतर रूप-सौंदर्य अथवा मनोगतियो के चित्र देख रहे है अथवा रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे है। मनोवैज्ञानिक सामञ्जस्य स्वाभाविकता में अलौकिकता का विन्यास सौन्दर्य की प्रतिष्ठा राधा की एक निष्ठा और यह कि श्रीकृष्ण निर्गुण से किसी भी प्रकार कम नही।

डा० हरवशलाल शर्मा अपनी शोधकृति 'सूर और उनका साहित्य' में विस्तार पूर्वक सूर के जीवन और काव्य की चर्चा करते है। उनके अनुसार 'सूर-साहित्य' की पृष्ठभूमि मध्यकालीन इतिहास है। इस युग में सब कहीं एक मानवतावादी आन्दोलन जन्मे। गुप्तोत्तर काल ६ठी से १२ वी सदी तक का साहित्य व्यापक है, पर उस पर साम्प्रदायिक छाप है। इसमे जैन और बौद्ध अपने अस्तित्व की रक्षा में प्रयास करते हुए दिखाई देते है। वैदिक-अवैदिक भावनाएँ इसी युग की उपज है। मध्ययुग को महान सांस्कृतिक युग मानते हुए डा० हरवशलाल कहते है कि तुलसीदास ने सामाजिक स्तर पर मानवता का उद्‌घाटन किया और सूर ने व्यक्तिगत धरातल पर। अतः सूर के काव्य मे सामाजिक और राजनैतिक चेतना दूर है फिर भी उतना अभाव नही है।

डॉ० हरवंशलाल की यह भी स्वीकृति है कि वैदिक युग की भक्तिधारा उपनिषद् ब्राह्मण स्मृतियों पुराणों आदि के मार्ग से बहती हुई अपना मार्ग बदल चुकी थी और वह क्षीण धारा भक्ति की मध्यकालीन धारा में लीन हो चुकी थी। अहिंसा में विश्वास करके भी जैन और बौद्ध मायाविक जाल में फंस चुके थे। बौद्ध प्रतिहिसा पर उतारू थे। इस प्रकार उक्त विकृतियाँ नाथ साधना और दक्षिण आड़वारों की साधना, आलोच्य भक्तिकाल मे पृष्ठभूमि का काम करती है। डॉ० शर्मा भी वैदिक युग की प्राकृतिक शक्तियो के साक्षात्कार से भक्ति का प्रारम्भ मानते है, हृदय मे उसकी रसानुभूति का नाम भक्ति है। ब्रह्मवाद के मूल में एक ही देवता के कई रूपों की स्वीकृतियाँ है। यज्ञपरक भावना से भक्ति का क्षेत्र यद्यपि सकुचित हो गया। पुरुष सूक्त में ईश्वर की कल्पना निराकार रूप में है। ब्रह्म की भावना उपनिषत्‌काल में अन्न के स्तर से उठकर आनन्द के स्तर पर पहुँच चुकी थी, हृदय तत्व की प्रमुखता हुई। यज्ञ का रूप बदल गया—श्रेयान् दुःख मयात् यज्ञात् ज्ञान यज्ञात् परंतप

छांदोग्य उपनिषत् के अनुसार घोराङ्गिरस ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को यज्ञविधि सिखाई। महाभारत के नारायणी आख्यान को सात्वतों ने बहुत महत्व दिया। पुराण युग मे अवतार की प्रतिष्ठा के साथ उनके २४

रूप माने गये । गुप्त युग में ब्राह्मण धर्म बल पकड़ता है । गीता में बौद्ध विचारों की प्रतिक्रिया है और तब ईसवी सन् ३ से लेकर १५ वीं तक विराट भक्ति-आंदोलन पूरे वेग से चला जो मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन के नाम से विख्यात है । डॉ० शर्मा जैन-बौद्ध प्रभाव को अवतार कल्पना का कारण मानते हैं। उपासना पद्धति में तांत्रिक प्रणाली के प्रवेश के साथ भक्ति के समर्थन में कई सम्प्रदाय अस्तित्व में आये । इनकी अनुगूंज १५,१६,१७ वीं सदियों के गीतों में सुनाई देती है, यही भक्ति आंदोलन का उत्कर्ष था ।

साहित्यिक दृष्टि से डॉ० शर्मा सूर के पदों में लोकगीतधारा का पूर्ण विकास देखते हैं और शृंगारी पदों में विद्यापति का प्रभाव। गेय पदों की परम्परा का उल्लेख कर सूर में पदों की दो धाराएँ मानते हैं । अति प्राकृत पद और मानव लीलापद दोनों धाराएँ समानान्तर चलती हैं । राधा परकीया नहीं है वरन् वह परकीया भाव से प्रेम करती है । राधा आदर्श प्रेमिकारूप में चित्रित है और शृंगार के चित्रण में यह ध्यान में रखना चाहिए कि सूर पहले भक्त हैं बाद में कवि ।

भ्रमरगीत के सम्बन्ध में उनका कहना है कि प्राचीन समय से भ्रमर रस-लोलुपता का प्रतीक रहा है । अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक का सहारा एक अनिवार्यता है । भ्रमर प्रतीकरूप में है । भ्रमरगीत के दो भाग हैं—(१)ब्रजदशा और संदेश (२) संदेश और उद्धव का ब्रज में आगमन । उद्धव-गोपी-संवाद और उद्धव का प्रेमाभक्ति में दीक्षित हो जाना—इन्हें क्रमशः भ्रमरगीत की पूर्व पीठिका और उत्तर पीठिका के रूप में निरूपित किया जा सकता है । डॉ० शर्मा गोपियों के उपालम्भ की कुंजी ग्वाल-बाल के कथन में मानते हैं, पर प्रश्न यह है, कि गोपियाँ इतना खीजती क्यों हैं ? डॉ० शर्मा की शोध-कृति का समापन ब्रज-संस्कृति के उल्लेख से होता है ।

डॉ० मनमोहन गौतम—'सूर की काव्य कला' में अपना अध्ययन कला तक सीमित रखते हैं । उनके अनुसार सूर की आत्मा कृष्ण-बाल-केलि और प्रणयलीला तक सीमित है। उनमें लीला-वर्णन बहुत है। सिद्धांत पक्ष अति स्वल्प है और लीलाओं के चित्रण में सूर की मौलिक प्रतिभा का निदर्शन है । लीलाओं में मानव गुण का प्राधान्य है, उनमें धार्मिक चेतना प्रमुख है, सूर में भावुकता है और प्रेम की त्रिविधता है । यद्यपि सूर में संयोग के अवसर अधिक हैं वियोग की तुलना में । संयोग की लीलाएँ अधिक हैं । विरह के दो अवसर हैं—एक अक्रूर के आगमन पर गोपियों की उद्विग्नता कृष्ण के मथुरा प्रवास पर परस्पर व्यन्जना, दूसरा उद्धव के आने पर वार्तालाप आदि । डॉ० गौतम के अनुसार संयोग पद २१०५ हैं जब कि विरह पद ११२० हैं । सूर में पूर्वराग की विरह-व्यन्जना कम है । कुरुक्षेत्र में मिलन सुखान्त है । भ्रमर-गीत में गोपी विरह की भाव प्रवणता है । सूर के काव्यशिल्प में उसकी रसानुभूति ही सब कुछ है । स्वानुभूति स्वतः ढलकर अभिव्यक्ति बन गई है । सूर की रसानुभूति प्रकाश बिम्ब है तो कला उसकी रश्मियाँ इसलिए अपना मूल विषय न होते हुए भी हमने संक्षेप में सूर-कला पर दृष्टि डाली है । डॉ० गौतम ने यह अच्छा

ही किया, परन्तु उनके अध्ययन में जो कमी अखर सकती है वह यह कि एक विधा के रूप में सूरसागर का संतोषजनक विश्लेषण सूर की काव्यकला से छूट गया है हालांकि डॉ० गौतम अनुभूति और अभिव्यक्ति में अभिन्न सम्वन्ध मानते हैं।

लोकोक्तियों और मुहावरों के बारे में डॉ० गौतम का कथन है कि "मुहावरे और लोकोक्तियाँ किसी भी भाषा की परम्परागत सम्पत्ति है"। हम इतना और जोड़ना चाहेंगे कि 'वे भाषा की जान हैं।' मुहावरे और लोकोक्तियाँ, परम्परा में ही जीवित नहीं रहतीं, वरन् जीवन में भी निर्मित होती रहती हैं। दोनों में अन्तर बताते हुए वे कहते हैं—"मुहावरे शब्दों और क्रिया-प्रयोगों के योग से बनते हैं, इनका एक विशिष्ट रूप बन जाता है जो वाक्यांश बनकर वाक्य में प्रयुक्त होता है, मुहावरे में पूरी बात नहीं कही जा सकती। किन्तु लोकोक्ति, एक विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। लोकोक्तियों के पीछे कोई अन्त: कथा होती है इसीलिए इसका नाम कहावत है। दोनों के प्रयोग में भी अन्तर है। मुहावरे स्वत: अभिव्यक्ति बन जाते है जब कि कहावतें उक्ति की पुष्टि में कही जाती हैं।" इसमें सन्देह नहीं कि डा० गौतम के विचार, काफी सुलझे हुए है, पर जब 'लाक्षणिक क्रिया' मुहावरे की आकांक्षा की पूर्ति कर देती है तो शब्द और क्रिया-प्रयोग कहने की आवश्यकता नहीं। शेष मुहावरे से पूरी बात ही नहीं कही जाती, वल्कि प्रभावशाली ढंग से कही जा सकती है। शेष बातों का विश्लेषण हम ऊपर कर चुके हैं, स्वयं डा० गौतम के कथन में विरोध है, 'मुहावरे स्वत: अभिव्यक्ति बन सकते हैं और उसमें पूरी बात नहीं कही जा सकती' यह अपने आप में विरोध है। डा० गौतम ने गिनती करके बताया है कि सूर के ९० मुहावरे और लोकोक्तियाँ, उद्धव और कुब्जा प्रसंग में हैं, अर्थात् भ्रमरगीत में हैं। डा० गौतम शब्द और क्रिया-प्रयोग के मेल से मुहावरा मानते हैं, पर उन्होंने ऐसे उपमा-पदों को भी मुहावरा मान लिया है जिनमें क्रिया है ही नहीं, जैसे—'धूप के हाथ', 'लेहु लेहु ज्यौं सूल', 'हंस काग संग' आदि।

१२ | प्रकीर्णक

विनय के पदों के साक्ष्य पर कुछ पंडितों का मत है कि प्रारंभ में महाकवि सूर शैव थे। बाद में वह वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। मेरे विचार मे विनय के पदों में ऐसी कोई बात नहीं जो उन्हें शैव या हठयोगी सिद्ध कर सकती हो। विनय पदों और लीलापदों में थोड़ी बहुत भिन्नता है, पर इतनी अधिक भिन्नता नहीं, जो उन्हें दो अगल सम्प्रदायों का सिद्ध करती हो। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि वल्लभ सम्प्रदाय में आने के पूर्व वह एक सामान्य भक्त थे और इस काल के उनके पदों में भक्ति का सामान्य स्वर मुखरित है। उसमें एक भी स्वर ऐसा नहीं, जो हठ-योगी या शैव हो। विनय के पदों के आधार पर कवि की दार्शनिक आस्था निश्चित करने के पूर्व, यह हिसाब लगाना बहुत आवश्यक है कि कितने पद वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के पूर्व के हैं, और कितने उसके बाद के। विनय के पदों में भगवान् के स्व-रूप और उसके प्रति भक्त की पहुँच के संबंध में कोई भी निश्चित धारणा या मान्यता नहीं है। उनमें आराध्य के सामान्य गुणों, जैसे उदारता, भक्तवत्सलता, ऐश्वर्य, साम-र्थ्य आदि गुणों का उल्लेख है। उनमें भी, अधिकांश पद श्याम से सम्बन्धित हैं और इनके आधार पर हम कह सकते हैं कि वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के पहले, सूर श्याम भक्ति के प्रति आर्कषित हो चुके थे। शिव या निर्गुण की तुलना में, सगुण श्याम के प्रति उनकी चेतना सर्वाधिक समर्पित थी। इन पदों मे भक्त हृदय की सहज दीनता समर्पण आदि भावों की व्यञ्जना है, किसी के प्रति अवज्ञा या अपनी सिद्धि का दंभ इन पदों में नहीं है। कवि नहीं कहता कि उसने माया को जीत लिया है, उसकी विनय तो यही है कि 'माया रूपी' इस गाय को कौन चरा सकता है। **'चौपरि जात मुड़े जुग बीते'** जैसे पदों में कवि संसार की क्षणिकता के संदर्भ में मनुष्य की शक्ति हीनता और विवशता का चित्रण करता है.—**"सूर एक पौ नाम बिना फिर फिर बाजी हारी।"** कुछ पद मानवजाति को यह अभय देते है कि ईश्वर का नाम ही, उन्हें काल की यातनाओं से उबार सकता है। अपने आराध्य की पौराणिकता के सन्दर्भ मे वह कहता है:—**"हौं पतितन को टीकौ।"** पर यह दैन्य, भक्तमात्र की सामान्य विशे-षता है। अन्तर यही है कि विनय के पदों में यह दैन्य सीधे व्यञ्जित है जब कि लीलापदों में किसी पात्र के माध्यम से। यह नहीं कहा जा सकता कि वल्लभ सम्प्रदाय में आने पर वह इस दैन्य से मुक्ति पा गया। हाँ, इस सम्बन्ध में यह तर्क अवश्य

दिया जा सकता है, कि भ्रमरगीत में कवि जो निर्गुण और हठयोग का विरोध करता है क्या वह एक प्रकार से अपनी पूर्वस्वीकृत साधना की प्रतिक्रिया नहीं है, परन्तु हमें खंडन-मंडन की इस प्रवृत्ति को कवि के वैयक्तिक सन्दर्भ में नहीं, प्रत्युत भक्ति के ऐतिहासिक सन्दर्भ में ही देखना चाहिए ! हठयोग की ह्रासोन्मुख साधनाओं की पृष्ठभूमि की प्रतिक्रिया मे से भक्त को अपनी उपादेयता सिद्ध करनी पड़ी है। अत: विनय और लीला के पदों में मूल भाव चेतना या विचारधारा का अन्तर नहीं, अन्तर यदि कोई है तो वह परिस्थतियों और सन्दर्भ का।

श्रीकृष्ण की वापसी

सूर के लीलाकाव्य के समापन के सन्दर्भ में अवसर यह प्रश्न उठता रहा है कि कृष्ण क्या मथुरा से लौटकर नहीं आ सकते थे ? आ सकते थे या नहीं, यह कृष्ण की अपनी निजी समस्या है। पर यह तथ्य है कि सूरकाव्य में वे आए नहीं ! क्यों नहीं आए ? इसके कई उत्तर दिए जाते रहे है। परम्परा का उत्तर है कि सूर्यग्रहण के अवसर पर सूर का कवि दोनों का (राधा-कृष्ण) मिलन करवा देता है और इस प्रकार मथुरा से वृन्दावन न आते हुए भी, दोनों का मिलन हो जाता है। भक्त का उत्तर है कि रसरूप में कृष्ण का अस्तित्व वृन्दावन में शाश्वत् है, इसलिए वियोग का और वियोग के बाद मिलन का प्रश्न ही नहीं उठता। सूर का उत्तर है कि महाभारत की मूलकथा में राधा है ही नहीं, सगुण भक्ति लीलाओं के संदर्भ में राधा आती है। इस भक्ति की चरम उपलब्धि वियोग की विभिन्न स्थितियों मे ही सम्भव है। अत: मथुरा से इनके न आने में ही भक्ति का पूर्ण परिपाक है, और लीलाकाव्य में महत्व कृष्ण की वापसी का नहीं, प्रत्युत इस बात का है कि कवि अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हो सका ? आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है—"कृष्ण के मथुरा से लौटने पर, कोई विशेष चमत्कार नही था। कवि जीवन के नए पक्ष पर प्रकाश डालना चाहता है। भक्तों की भावना इतनी क्षुद्र नही है कि वह संयोग में ही तृप्त हो।" परन्तु यहाँ मुख्यरूप से विचारणीय यह नही कि भक्तों की भावना क्षुद्र है या नहीं, वरन् यह है कि काव्य की दृष्टि से श्रीकृष्ण के व्रज न आने में क्या औचित्य है ? और उनके लीलाकाव्य को सुखान्त माना जाय या दुखान्त ? आखिर वह जीवन का कौन सा नया पक्ष है जिस पर प्रकाश डालने के लिए, श्रीकृष्ण की मथुरा से वापसी बहुत बड़ी बाधा थी ? मैं समझता हूँ ये सारे प्रश्न एक दूसरे से सम्बद्ध है, एक ही कार्य की विभिन्न साध्यमान स्थितियाँ है, सूर के समूचे लीलाकाव्य का एक ही कार्य है। यह है, प्रेमाभक्ति का पूर्ण मानसिक साक्षात्कार, उसकी आस्वाद्यमानता का सम्पूर्णतम भोग। प्रेमाभक्ति, सिद्धान्त रूप में श्रीकृष्ण के शाश्वत् सामीप्य और निरन्तर मिलन में विश्वास करती है, इस लक्ष्य के सकेत काव्य मे हैं। परन्तु साधनापक्ष में उसकी प्रतीयमान स्थिति को बनाए रखना कवि के लिए एक अनिवार्यता थी। यदि मिलन का ही प्रश्न था, तो गोपियाँ स्वयं मथुरा जाकर, इसको हल कर सकती थीं। आखिर उन्हें कौन रोक सकता था जो गोपियाँ मुरली की टेर पर, 'गृहकारज' छोड़ते

हुए तनिक भी नहीं झिझकतीं, उनके लिए आखिर क्या असंभव था ? वे मथुरा जा सकती थीं, परन्तु लगता है साधना की दृष्टि से जो उन्हें सहज से सहज सभव था, वही उनके लिए असंभव था । प्रेमाभक्ति, केवल प्रिय के साक्षात्कार तक सीमित नहीं है, प्रत्युत 'आत्मसाक्षात्कार' की भी प्रक्रिया है । लीलाकाव्य के उद्देश्य की सफलता का मूल्यांकन इस बात से किया जाना चहिए कि गोपियाँ आत्मसाक्षात्कार कर सकीं या नहीं, न कि इस बात से कि श्रीकृष्ण वापस आए या नही ।

भ्रमरगीत का पठ्यक्रम

'भ्रमरगीत सार' भ्रमरगीत का एकमात्र संक्षिप्त संस्करण है, जो उपलब्व है । इसका संग्रह–संपादन स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन् १९२० में किया था, परन्तु कई कारणों से वह संवत १९८२ में प्रकाशित हो सका । (देखिए दसवें संस्करण का आमुख) आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है कि सूरसागर का कोई अच्छा संस्करण न होने के कारण, सूर के पदों का ठीक ठीक पाठ मिलना, एक कठिन बात हो रही है । तब से लेकर आज तक, 'भ्रमरगीत के स्वतंत्र संग्रह के नाम पर, यही संस्करण, सब जगह एम० ए० (हिन्दी) के पाठ्यक्रम में निर्धारित है । बाद में पंडित विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने उसमें कुछ आवश्यक संशोधन और परिवर्तन किये हैं, उनके मुख्य सुधार ये हैं :—

१. भ्रमरगीत सार—के लम्बे पद सख्या (३७९), के छः टुकड़े हो गए थे उसे एक पद बना दिया गया ।

२. ५ पद दो दो बार छपे थे, इसे ठीक किया गया ।

३. सर्वत्र 'स' का प्रयोग किया गया क्योंकि ब्रज में तालव्य 'श' होता ही नहीं ।

४. चूर्णिका में कुछ नई बातें जोड़ी गई ।

यह होते हुए भी, 'भ्रमरगीत सार' मे सग्रहीत पदों के क्रम में कुछ गड़बड़ी रह गई है जो कवि के काव्य को समझने में बाधक है । नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' में यह क्रम ठीक है। उदाहरण के लिए 'भ्रमरगीत सार' के प्रारम्भिक दो पद ही लीजिए : पहला पद है :—

पहले करि परिनाम नंद सों समाचार सब दीजो ।
और वहां वृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लीजौं ।।
श्रीराधा आदिक ग्वालन मेरे हुतों भेटियो ।
सुख संदेश सुनाय हमारो गोपिनन को दुख मेटियो ।।
मंत्री इक बन बसत हमारो ताहि मिले सुच पाईयो ।
सावधान ह्वै, मेरे हुतो ताहि माथ नवाइयो, ।
सुन्दर परम किशोर वयक्रम चंचल नयन विशाल ।
कर मुरली सिर मोर पंख पीताम्बर उर बनमाल ।।

जनि डरियो तुम सघन बनन में ब्रजदेवी रखवार ।
वृंदावन सों बसत निरन्तर, कबहुं न होत निनार ॥
उद्धवप्रति सब कही स्यामजू अपने मन की प्रीति ।
सूरदास कृपा करि पठाए यह सकल ब्रजरीति ॥

दूसरा पद है—

कहियो नंद कठोर भए
हम दोउ बीरै डारि पर-घरै मानो थाती सौंप गए
तनक तनक तैं पालि बड़े किए बहुतै सुख दिखाए
गोचरन को चलत हमारे पाछैं कोसक धाए
ये बसुदेव देवकी हमसों कहत आपने जाए
बहुरि बिधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाए
कौन काज यह राज नगर को सब सुख सौं सुख पाए
सूरदास ब्रज समाधान करु आजु काल्हि हम आए

इन दोनो पदो के अर्थ से स्पष्ट है कि इनमें कृष्ण उद्धव को बता रहे हैं कि उन्हे वृंदावन जाकर क्या कहना ? लेकिन तीसरा पद है :— "तबहिं उपंगसुत आय गए" अर्थात ठीक इसी समय उद्धव आ पहुंचे । जब उद्धव से कृष्ण बातचीत कर ही रहे हैं तो उद्धव कहा से आ गए । वस्तुतः उक्त दोनों पद बाद के हैं, और उन्हें तीसरे पद के बाद कहीं यथासन्दर्भ रखा जाना चाहिए । सूरसागर में क्रम ठीक है । भ्रमरगीत सार की पद संख्या ३, ४, ५, ६, ७, ८, ११, ९ और १० क्रमशः सूर-सागर की पद संख्या ४०३८, ४०४०, ४०४१, ४०४२, ४०४४, ४०४५, ४०४७, ४०५६ और ४०५७ से मिलती है । सकोच के कारण सूरसागर के ४०३९, ४०४३, ४०४६ वे पद भ्रमरगीत में नही है । परन्तु भ्रमरगीत का पहला पद " पहिले करि परनाम" सूरसागर में ४०६७ वॉं है । उद्धव ब्रज के लिए प्रस्थान करते हैं । अतः यह बाद का पद, भ्रमरगीत के ८ या ९ वें पद के बाद होना चाहिए । सूरसागर में उद्धव को भेजने की पृष्ठभूमि यह है कि आश्रम में पढ़ते-पढ़ते कृष्ण को वृन्दावन की याद आती है, वह गुरुदक्षिणा देकर मथुरा आते हैं और उद्धव को ब्रज भेजना चाहते हैं । वह जानते है कि उद्धव अद्वैतवादी है । वह कहते हैं—

याहि और नहिं कछू उपाय
मेरी कहा कह्यौ नहिं मानै है ब्रज ही देऊँ पठाइ
सुन्त प्रीति जुवतिनो की कहि कै याकौ करौं महन्त
गोपिन के परमोधन कारन, जैहै सुनत तुरन्त
अति अभिमान करयौ मन में जोगिनि को यह भांति
सूर स्याम यह निहचै करिहैं, बैठत है मिलि पांति

इसके बाद ही उद्धव आते हैं, तब हि उपंग सुत आइ गए"
मेरे विचार से "भ्रमरगीत सार" के पहले दो पद बाद में रखकर, "याहि और

नहिं कछु उपाई से भ्रमरगीत को प्रारम्भ करना उचित होगा क्रम-निर्वाह और तर्क, दोनों दृष्टियों से ।

पदक्रम में एक और उलट फेर है, वह है १७ वें पद में । यह पद, 'सूरसागर' में सब से बाद में आता है, ठीक उद्धव की मथुरा वापसी के पूर्व । परन्तु 'भ्रमरगीत सार' में यह पद गोपियों से, प्रथम सन्देश के रूप में कहा गया है । यह एक लम्बा पद है, जो काफी उलट पुलट गया है । दोनों की तुलना से वस्तुस्थिति का पता लग जायगा, "भ्रमरगीत सार" मे पद इस प्रकार है,—

ऊधौ को उपदेस सुनो किन कान दै
सुन्दर स्याम सुजान पठायो मान दै
कोऊ आयौ उततांय जिहैं नंदसुवन सिधारें
वहै बेनु-धुनि होय, मनो आए नंद प्यारे
धाई सब मलगाजियै, ऊधौ देखे जाय ।
लै आई ब्रजराज पैं हो आनन्द उर न समाय
अरघ आरती तिलक दूब दधि माथैं दीन्हीं
कन्चन कलस भराय अनि परिकरना कीन्हीं
गोप भीर आंगन भई मिलि बैठे यादवजात
जलझारी आगे धरी, हौं बूझति हरि कुसलात
कुसल छेम वसुदेव कुसल देवी कुबजाऊ
कुसल छेम अक्रूर कुसल नीके बलदाऊ
पूछि कुसल गोपाल की रही सकल गहि पाय
प्रेम मगन ऊधौ भए हौ, देखत ब्रज को भाय
मन मन ऊधौं कहैं यह, न बूझिय गोपालहिं
ब्रज को हेतु बिसारि जोग सिखवत ब्रज बालहिं,
पाति बांच न आवई रहे नयन जलपूरि
देखि प्रेम गोपिन को, हो, ज्ञान-गरब गयो दूरि
तब इत उत बहराय नीर नयनन में सोख्यो
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरु समोख्यो
जो व्रत मुनिवर ध्यावहिं पर पावहिं न पार
सो व्रत सीखो गोपिका, हो छाँड़ि विषय विस्तार
सुनि ऊधो के वचन रहीं नीचे करि तारे
मनो सुधा सों सींचि अनि विष ज्वाला जारे
हम अबला कह जानहीं जोगजुगति की रीति
नंद नंदन ब्रत छाड़िकें हो, को लिखि पूजे भीति
अविगत अगह अपार आदि अवगत है सोई
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई

नैन नासिका अग्र है तहां ब्रह्म कौ बास
अबिनासी बिनसे नहीं हो सहज ज्योति प्रकास
घर लागे औघुरि को भ्रम कहा बधावै
अपनौ घर परिहरै, कहो कौ घरहि बतावै
मूरख यादव जात है हमहिं सिखावत जोग
हमकौं भूली कहत है, हो हम भूली किधौं लोग
गोपिहू तैं भयौ अंध ताहि दुहु लोचन ऐसे
ज्ञान नैन जो अंध ताहि सूझे धौ कैसे
बूझे निगम बुलाई कैं कहै वेद समुझाय
आदि अंत जाकै नहीं ऊखल किन बांधों
नैन नासिका मुख नहीं चोर दूधि कौते खांधौ
कौन खिलायौ गोद में किन किये, तोतरे बैन
ऊधौ ताकौ न्याय है, हो जाहि न सूझै नैन
हम बूझत सतभाव न्याव तुम्हरे मुख सांचों
प्रेमनेम रस-कथा कहौं कंचन की कांचौ
जो कोऊ पावै सीस दै ताकौं कीजै नेम
मधुप हमारी सौं कहौ हो जोग भलौ किधौं प्रेम
प्रेम प्रेम सौ होय प्रेम सौ पारहिं जैए
प्रेम बंध्यौ संसार प्रेम परमारथ पैए
एकै निहचै प्रेम कौ जीवन मुक्तिरसाल
सांचो निहचै प्रेम को हो जो मिलिहैं नंदलाल
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधौ को भूल्यो
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यों
इन गोपिन के पग धरै धन्य तिहारौ नेम
धाम धाम द्रुम भेंटहीं हौ ऊधौ थाकै प्रेम
धनि गोपी धनि प्रेम धन्य सुरभि बनचारी
धन्य धन्य सौ भूमि जहां विहरै बनचारी
उपरेसन आयो हुतौं मोहि भयो उपदेस
ऊधौं जदुपति पै गए, हो, किए गोप को बेस
भूल्यो जदुपति नाम कहत गोपाल गुसाईं
एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई
गोकुल को सुख छांड़िकै कहाँ बसै हौ आय
देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिन भावै
उमड़्यौ नयननि नीर बात कछु कहत न आवै
सूर स्याम भूतल गिरै रहै नयन जल छाय